पुराणों की अमर कहानियाँ

[पुराणों की जीवनदायिनी दस पुण्यकथाएँ]

द्वितीय भाग

रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

मुद्रक : हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

ढाई रुपए

प्रथम संस्करण : १९५९ ईसवी

भाई अखिलेशचन्द्र उपाध्याय

को

सप्रेम भेंट

निवेदन

पुराण भारतीय जीवन के पुराने चित्रों के अनुपम संग्रह हैं। इनमें जितनी निपुणता से हमारे देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की मोहक चर्चा की गई है, संभवतः उसकी तुलना में कोई अन्य सामग्री उपस्थित नहीं की जा सकती। यों तो यह धार्मिक दृष्टिकोण से रचे गए पवित्र ग्रन्थ हैं और सर्वत्र भक्ति, ज्ञान, साधना, जप, तप, उपदेशादि आध्यात्मिक तत्वों के चिन्तन की ही इनमें प्रधानता भी है तथापि लौकिक व्यवहारों के सभी अंगों का वर्णन भी इनमें विपुलता से किया गया है। उदाहरणार्थ—व्याकरण, आयुर्वेद, ज्यौतिष, वेदान्त, धनुर्विद्या, स्थापत्यकला, शिल्पविद्या, वास्तु विज्ञान, व्यापार-वाणिज्य, राजनीति, कूटनीति, मूर्तिकला, चित्रकला, सङ्गीत शास्त्र, नृत्यकला आदि ललित-कलाओं एवं जीवनोपयोगी अन्यान्य विद्याओं का भी बड़े आकर्षक एवं सरल-सुगम ढङ्ग से वर्णन किया गया है। पुरानी कहानियों का तो यह भाण्डार ही है। संभवतः विश्व वाङ्मय में किसी भी समुन्नत समाज की पुरानी सभ्यता एवं संस्कृति का पुराणों की कहानियों जैसा रोचक और मार्मिक वर्णन नहीं मिलेगा। पशु-पक्षियों एवं कीट-पतङ्गों को ही नहीं लताओं एवं वृक्षों को भी इनमें वाणी दी गई है और उनके माध्यम से भी जीवन-दर्शन की जटिल गुत्थियों को सुलझाने की चेष्टा की गई है।

यह सत्य है कि आज के बुद्धिवादी युग में पुराणों की भावना-प्रधान कहानियों का भविष्य देखने में धुँधला प्रतीत हो रहा है, किन्तु यह भी सत्य है कि पुराणों की कहानियों में भारतीय जीवन की कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के तत्त्व संकलित हो गये हैं कि जब तक वे धरती पर रहेंगी तब तक पुराणों की इन भावना-प्रधान कहानियों का भी अस्तित्व बना रहेगा। उदाहरण के लिए काशी, प्रयाग,

हरिद्वार, मथुरा, पुरी, द्वारका, रामेश्वरम्, नासिक, अयोध्या, बद्री-नाथ, केदारनाथ, गंगासागर प्रभृति तीर्थस्थलों को एवं गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, सिन्धु, गोमती, ब्रह्मपुत्र प्रभृति नदियों तथा हिमालय, विन्ध्य, अमरकंटक प्रभृति पर्वतों को ले सकते हैं। पुराणों में इन सब को लेकर जो रोचक एवं प्रेरणादायिनी कहानियाँ उपनिबद्ध हैं, उनका रंग विज्ञान अथवा बुद्धिवाद की किरणों से मिटाया नहीं जा सकता। फलतः जब तक ये वस्तुएँ रहेंगी तब तक पुराणों की कहानियों का जीवन भी सुरक्षित रहेगा। कोई भी सभ्य एवं समुन्नत जाति अपने पुराने साहित्य की निधियों को फेंक नहीं देती, भले ही आधुनिक सुख-सुविधाओं के कारण उनकी वर्तमान उपयोगिता का मूल्य कुछ कम हो जाता हो। यही कारण है कि अनेक विपरीत परिस्थितियों में पड़कर भी पुराण जीवित रहे। वे परिस्थितियाँ आज के युग में असामान्य ही कही जायँगी। वे ऐसी थीं कि उनमें पुराणों की स्थिति तो दूर पुराणों के मानने-जानने वालों की स्थिति भी संकटों से भरी थी।

पुराणों का अर्थ है पुरानी कहानियों अथवा पुराने इतिहास के ग्रन्थ। इनकी रचना का उद्देश्य बताते हुए वेदव्यास ने अनेक स्थलों पर यही कहा है कि—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥"

अर्थात् पुराणों में सृष्टि, सृष्टि का विस्तार, सूर्य चन्द्रादि प्राचीन राजवंश, एवं स्वायम्भुव आदि मन्वन्तर तथा इतर राजवंशों की कहानियाँ संगृहीत की गई हैं। किन्तु आज पुराणों का जो स्वरूप हमारे सम्मुख है, उसमें उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त इनमें लौकिक एवं अलौकिक कहानियों का भी जंजाल बहुत अधिक है। उन्हें देखकर यह सन्देह स्वाभाविक रूप में उठता है कि पुराणों में प्रक्षेपों की बहुलता है। बहुत समय तक इनमें अशुद्ध सामग्रियों का मेल भी

खूब हुआ है। किन्तु यह तो कहना ही पड़ेगा कि पुराणों का कुछ मूल स्वरूप वेदों से भी पूर्व विद्यमान था। अथर्ववेद में न केवल पुराणों की चर्चा की गई है, प्रत्युत उनकी कथाओं के कतिपय प्रसङ्ग भी उल्लिखित हैं। उपनिषदों, ब्राह्मणों एवं आरण्यकों में तो पुराणों की व्याख्याएँ भी दी गई हैं और कुछ प्रसङ्गों पर उन्हें चारों वेदो के साथ पाँचवाँ वेद बताया गया है। (**स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदम् सामवदेमथर्वणम् चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानाम् वेदम्**। छान्दोग्य उपनिषद ७। १। १।) किन्तु इस उल्लेख का यह भी तात्पर्य नहीं समझना चाहिए कि वेदों अथवा उपनिषदों की रचना के समय आज के प्रचलितों अठारहों महापुराणों का इसी रूप में अस्तित्व था। जिन पौराणिक सन्दर्भों का वैदिक साहित्य में उल्लेख मिलता है, वे अब अविकल रूप में हमारे सम्मुख नहीं हैं। प्रत्युत समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों एवं संशोधनों से बढ़ते-बढ़ते वही आज के दर्जनों पुराणों में विभक्त हो गए हैं।

पुराणों की कहानियाँ सोद्देश्य हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहानियों की भाँति उनमें कहानी-कला का प्रदर्शन तो बिल्कुल ही नहीं है। सीधी-सादी भाषा में सांसारिक जीवन को किसी उच्च लक्ष्य पर मोड़ने के लिए ही उनका ग्रन्थन हुआ है। वे बहुमूल्य सुवर्ण और रजत पात्रों की भाँति हैं इसलिए एक बार, दो बार किसी उचित अवसर पर उनका सदुपयोग करके हृदय के किसी कोने में सहेज कर रख दिया जाय और वैसा ही समय पड़ने पर फिर उन्हें उपयोग में लाया जाय। मिट्टी अथवा शीशे के, रंग-विरंगी कलापूर्ण चित्रकारी से समलंकृत बाजारू पात्रों की भाँति उनका जीवन क्षुद्र-कालव्यापी नहीं है। उनकी गढ़न, गंभीरता अथवा सादगी के सम्मुख नई कहानियाँ अपनी साज-सज्जा एवं कल्पना-वैचित्र्य के कारण बाहर से अधिक आकर्षक प्रतीत होंगी, किन्तु क्या क्षणिक आकर्षण के वशीभूत होकर शीशे और मिट्टी के नेत्ररंजक पात्रों को रखकर,

अपने सोने-चाँदी के बहुमूल्य पात्रों को नष्ट कर दिया जाता है ? ठीक उसी प्रकार हमारी इन प्राचीन किन्तु पवित्र एवं प्रेरणाप्रद कहानियों को भी हृदयङ्गम किया जा सकता है। इनमें हमारी प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के उन मूल्यवान उपादानों का मिश्रण है, जिनके कारण हम आज भी अपनी छाती गर्व से फुला सकते हैं। जिस प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति ने किसी समय विश्व के हृदय में ऊँचा और आदर का स्थान प्राप्त किया था, जिसने भूमण्डल के अधिकांश राष्ट्रों को अपने अमिट रङ्गों में रंजित कर दिया था, वह आज भी इन कहानियों की रग-रग में मूर्तमान है, जीवित है और हमें इस वैज्ञानिक चकाचौंध में भी प्रेरणा देने की पर्याप्त शक्ति रखती है।

आज के इस वैज्ञानिक युग में भी हम अपनी पुरातत्व-प्रियता जताने के लिए अथवा अपनी प्राचीन संस्कृति की उच्चता सिद्ध करने के लिए हजार-दो हजार वर्ष की पुरानी मिट्टी की टूटी-फुटी हँड़िया तथा ठीकरों को भी हजारों रुपये एवं वर्षों के श्रम से खोजकर बड़ी सुरक्षा से रखते हैं। ससम्मान शीशे की आलमारी में बन्द करके ताला लगा देते हैं और ऊपर से उसका संक्षिप्त परिचय मात्र देते हैं। तब फिर हम अपनी इन मूल्यवान किन्तु सर्वत्र सुलभ निधियों को उपेक्षा से क्यों देखें ? इनका मूल्य तो इस समय भी बहुत अधिक है। इनके निर्माण में लगे हुए सुवर्ण अथवा रजत का भाव तो आज पहले से बहुत अधिक हो गया है। ये सङ्कट के समय हमारे जीवन की रक्षा करने में भी पूर्ण समर्थ हैं। अतः इनको सम्मानपूर्वक सुरक्षित रखना हमारा परम कर्त्तव्य है।

इसी उद्देश्य से मैंने पुराणों की इन कहानियों का ग्रन्थन किया है। पुराणों में कहानियाँ तो इतनी अधिक हैं कि ऐसी-ऐसी सैकड़ों पुस्तकें तैयार हो सकती हैं। अतः हमने इन संग्रहों में केवल ऐसी ही कहानियाँ रखी हैं, जो आज के बहुव्यस्त एवं वैज्ञानिक सुख-सुवि-

धाओं से सम्पन्न मानव-जीवन में भी मानवता को ऊँचा उठाने वाली श्रद्धा के एकाध अंकुर उत्पन्न कर सकें तथा स्वल्प मात्रा में मनोरंजन एवं कुतूहल की शान्ति के साथ-साथ जीवन-प्रवाह में किसी उच्चादर्श की प्रतिष्ठा करा सकें। इन कहानियों का अमर ढांचा तो पुराणों का ही है किन्तु इनकी रूप-रेखा के निर्माण में मेरे अनुभवहीन हाथों ने भी कुछ इधर-उधर किया है। कहीं यदि कोई नवीन कल्पना प्रासंगिक जान पड़ी है तो मैंने उसे जोड़ना अपराध नहीं समझा है। कथोपकथन एवं संवादों में भी पुराणों की शब्दावली नहीं रखी गई है। अतएव यदि कोई पण्डितम्मन्य विद्वान पुराणों में वर्णित मूलकथाओं से इनकी तुलना करेंगे तो उनको स्वाभाविक अमर्ष हो सकता है। किन्तु आज के समाज के उपयुक्त रंग देने के लिए ही मैंने यह धृष्टता की है। पुराणों को विद्रूप करना मेरा उद्देश्य नहीं है, मैंने तो उनके पुराने एवं उपेक्षित ढांचों को इस नए रूप में प्रस्तुत करने का ही प्रयत्न किया है। ज्ञात नहीं, इनकी रूप रंग-रचना का मेरा यह उद्देश्य कहाँ तक सफल हुआ है?

इस ग्रन्थमाला में केवल ऐसी ही पौराणिक कहानियाँ दी गई हैं, जो मानव-जीवन को संस्कृत और समुन्नत बनाने वाली हैं और प्रकारान्तर से हमारे इस महान देश के गौरवशाली अतीत का मोहक किन्तु प्रेरक चित्र प्रस्तुत करनेवाली हैं। इनके पात्र प्रायः सभी पुराणों में प्रख्यात व्यक्तित्व ही नहीं हैं, अधिकांश ऐसे भी हैं, जिनसे हमारा चिरकाल का परिचय है। जिनके पुण्य-चरित हमारे मानस को स्वतः प्रेरणा एवं स्फूर्ति देने वाले हैं और जिनके सम्बन्ध की अनेक दन्तकथाएँ हम बराबर सुनते रहते हैं। हमारा निवेदन है कि इस ग्रन्थमाला में पुराणों की शताधिक कहानियाँ तो आनी ही चाहिएँ। यह द्वितीय भाग है, जिसमें केवल दस कहानियाँ संगृहीत हैं। इनमें से कुछ कहानियाँ हिन्दी की सुप्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित

हुई हैं और पाठकों की ओर से लेखक को पर्याप्त उत्साह भी मिला है। इनके ग्रन्थन की प्रेरणा का यही संबल रहा है।

इन कहानियों की भाषा यत्र-तत्र पौराणिक कथावस्तु के चित्रण एवं पुराण-प्रख्यात पात्रों की उपस्थिति के कारण कुछ अलंकृत अथवा भारी है। शैलीगत वैयक्तिक विशेषता भी इसका एक कारण है। हमें विश्वास है, हमारे पाठकों को इससे कोई बाधा नहीं पड़ेगी। देववाणी के बंद मन्दिरों में प्रवेश करने की अपेक्षा तो इसके अवगाहन में उन्हें तनिक भी कठिनाई न प्रतीत होगी।

अन्त में हम साहित्य भवन लिमिटेड के प्रधान मंत्री सुहृद्वर श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन (राजा मुनुआ जी) तथा उसके संचालक मित्रवर श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी जी को हार्दिक धन्यवाद देते हैं, जिनके प्रोत्साहन, प्रेरणा, एवं सत्सहयोग से इस ग्रन्थमाला की यह द्वितीय पुस्तक इस रूप में प्रकाशित हो रही है। उनके ऐसे ही सहयोग और प्रेरणा से इसके अगले भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित हो सकेंगे।

प्रकाश निकेतन, कृष्णनगर
(कीटगंज) इलाहाबाद
सोमवार वैशाख कृष्ण ५, २०१६

रामप्रताप त्रिपाठी

विषय सूची

———

अर्वावसु का भ्रातृ-प्रेम

महर्षि रैभ्य और भरद्वाज भाई-भाई थे। महर्षि रैभ्य विद्या और सदाचार के अनन्य उपासक थे। अपनी वृद्धावस्था तक वह शास्त्रों के चिन्तन और परिशीलन में लगे रहे। यद्यपि वह एक प्रकाण्ड पण्डित थे और वेदों के समस्त अंगों पर उनका असाधारण अधिकार था तथापि उन्होंने भरद्वाज की भाँति कोई आश्रम नहीं चलाया और न अपनी गृहस्थी के संचालन के लिए किसी के सम्मुख हाँथ ही पसारा। जो कोई विद्यार्थी उनके पास विद्याध्ययन के लिए पहुँच जाता उसे वे विद्या दान कर देते और जो कुछ उनके आश्रम में बिना याचना अथवा सन्देश के कहलाए आ जाता उसी पर सब परिवार और छात्रवर्ग की जीविका चलती। उनके अपरिग्रही जीवन का यह क्रम सदा अखण्डित रहा और इसका परिणाम यह रहा कि जहाँ उनके जैसे प्रकाण्ड पण्डित के आश्रम में सहस्रों विद्यार्थियों के रहने की संभावना की जाती थी वहाँ दस-बीस विद्यार्थी से अधिक कभी न रहे। यही दशा उनके गृहस्थ जीवन का भी रहा। छात्र जीवन के समान उनकी गृहस्थी में अभावों की परम्परा कभी टूटी नहीं और न पुराने क्रम में कभी कोई परिवर्तन ही रहा। किन्तु रैभ्य के सदाचार की आराधना उत्तरोत्तर उज्ज्वल होती गयी। छात्र जीवन में अपने आचार्य से उन्होंने जिन आचारों की दीक्षा ली थी, उनके पालन में सदा जागरूक रहे और कभी अत्यन्त कठिनाई में पड़ने पर भी उनसे विरत नहीं हुए।

सत्य के वे निष्ठावान पुजारी और धर्म की मर्यादा के सदा सतर्क प्रहरी थे। गृहस्थ-जीवन के झंझटों में भी वे कभी सत्य की आराधना से विमुख नहीं हुए और धर्म की मर्यादा रक्षा की दशा यह थी कि

अपनी दयनीय आर्थिक स्थिति को कभी सुधारना तो दूर, आए दिन सम्पन्न होने वाले पितरों के श्राद्ध तथा गृहस्थोपयोगी यज्ञादि के अनुष्ठानों की पूर्ति में भी कठिनाई आ जाती। किन्तु महर्षि रैभ्य ने इन कर्मों में कभी प्रमाद नहीं किया। अपने आश्रम में आनेवाले अतिथियों को सत्कृत करने के निमित्त कई बार उन्हें स्वयं उपवास करना पड़ जाता था किन्तु उन्होंने अतिथि-सत्कार की उज्ज्वल परम्परा में कभी त्रुटि नहीं आने दी। अपने छात्रों को भी वे अपने पुत्र के समान ही स्नेह और आत्मीयता की दृष्टि से देखते थे और उनकी सब प्रकार की कठिनाइयों को दूर करने के उपाय किया करते थे।

महर्षि रैभ्य यद्यपि जीवन भर गृहस्थी की कठिनाइयों से ही युद्ध करते रहे तथापि वे स्वाध्याय से कभी विरत नहीं हुए। मंगलदायिनी ब्राह्म बेला में निद्रा त्याग कर वे नित्य कर्म से निवृत्त होकर सन्ध्या एवं गायत्री की सविधि आराधना करते। सूर्योदय से पूर्व ही गृहस्थी के कुछ कार्य पूरा करते और फिर छात्रों के अध्यापन का कार्य करते और तदनन्तर अपने स्वाध्याय में लग जाते। जितनी देर तक छात्रों को पढ़ाते उससे अधिक समय तक वह अपने स्वाध्याय में दत्तचित्त रहते। ज्ञान एवं विद्या के प्रति उनकी यह अविचल निष्ठा अवस्था के साथ ही उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी। यदि उनमें किसी वस्तु के प्रति लोभ और तृष्णा थी तो वह यही वस्तु थी। अधिक से अधिक समय तक वह इसी कार्य में लगे रहते और जब तक किसी अन्य कार्य की हानि न होने लगती तब तक इसे त्यागते नहीं थे। विद्या के प्रति उनकी इस अटूट साधना का गहरा प्रभाव उनके छात्रों पर भी पड़ता था। किन्तु इन सब कार्यों के साथ महर्षि रैभ्य की जिस विशेषता का सब लोग आदर करते थे वह थी उनकी परिश्रमशीलता। परिश्रमी जीवन के वे सदा से अभ्यासी रहे और अपने कार्यों को सदा उन्होंने अपने हाथ से पूरा किया। अपनी पत्नी, पुत्र तथा छात्रों से भी उन्होंने अपनी गृहस्थी के कार्यों में कभी कोई सेवा-सहायता नहीं

ली और न अपनी शारीरिक सेवा-शुश्रूषा की ही कभी आवश्यकता समझी। शारीरिक श्रम को वे मानव जीवन की सर्वतोमुखी उन्नति का द्वार समझते थे और यह कहा करते थे कि जो मनुष्य शारीरिक श्रम से भागता है, आराम और निद्रा से प्यार करता है, वह कभी अपना कर्त्तव्य पालन नहीं कर सकता। अपने शरीर के लिए किसी दूसरे की सेवा-शुश्रूषा पर आश्रित रहना सब से बड़ा रोग है और अपनी गृहस्थी में सब कार्यों को अपने हाथ से पूरा करना सब से बड़ा कर्त्तव्य है। और धर्म की अर्चना तो शारीरिक श्रम के बिना कभी संभव ही नहीं है।

महर्षि रैभ्य के इन स्वाभाविक सद्‌गुणों की छाप उनके शिष्यों तथा परिवार के सदस्यों पर भी पड़ती थी और वे सब उन्हीं की भाँति अप्रमादी, कर्त्तव्य-परायण, सदाचारी तथा धर्मात्मा थे। परोपकारिता एवं दुःखियों के प्रति सहानुभूति उनका स्वभाव बन गयी थी और सब के सब अपने कर्त्तव्यों के प्रति अहर्निशि जागरूक रहते थे। इसका परिणाम यह होता था कि महर्षि के आश्रम में वे ही छात्र विद्याध्ययन करने के लिए टिक पाते थे, जो परिश्रमशील, सदाचारी तथा दृढ़ विचारों के होते थे। आराम पसन्द करनेवाले आचारहीन और भावुक छात्रों का निर्वाह उनके यहाँ कठिन था। दो-एक मास के भीतर ही ऐसे लोग उनका आश्रम छोड़कर भाग जाते थे।

महर्षि रैभ्य के दो पुत्र थे। परावसु और अर्वावसु। दोनों ही पिता के समान सदाचार परायण, स्वाध्यायी तथा प्रकाण्ड पण्डित थे। परिश्रम एवं धर्म के कार्यों में सदा अप्रमाद करने वाले तथा परदुःखकातर थे। अपने सुयोग्य पिता के प्रति उनके हृदय में अविचल श्रद्धा थी तथा उन्हीं की भाँति ये भी अपरिग्रही स्वभाव के ब्राह्मण थे। किसी से न कुछ माँगना, न लेना। गृहस्थी के कार्यों में परिश्रम द्वारा जो कुछ उपार्जित कर लेते वही उनकी जीविका होती थी। पिता के संग वे भी अब आश्रम में आने वाले छात्रों को अध्या-

पन कार्य में सहायता करते थे और जो कुछ समय बच जाता था उसमें स्वाध्याय, परोपकार तथा यज्ञादि का अनुष्ठान ही उनका व्यसन था।

परावसु ज्येष्ठ थे और अर्वावसु उनसे छोटे। दोनों ही मुनि-कुमार विद्या एवं प्रतिभा में अत्यन्त असाधारण थे। शास्त्रों एवं वेदों पर उनका गहरा अधिकार था और अध्ययन तथा चिन्तन के क्षेत्र में भी वे समान गति रखते थे। किन्तु स्वाभाविक विशेषता के कारण उनमें थोड़ा बहुत अन्तर भी था। जहाँ परावसु कुछ स्वाभिमानी तथा चंचल प्रकृति के थे, वहीं अर्वावसु में विनयशीलता और गंभीरता के प्रति अधिक निष्ठा थी। परावसु ज्येष्ठ होने के कारण अर्वावसु को अपने अनुशासन में रखते थे और उनसे छोटे मोटे कार्यों में सहायता लेना अपना अधिकार समझते थे। अपने ज्येष्ठ भाई की सहायता एवं सेवा में अर्वावसु को बड़ी प्रसन्नता होती थी। वे सुप्रसन्न मन से बड़े भाई के बिना कुछ कहे-सुने ही ऐसे कार्यों को पूरा कर दिया करते थे और सदा उनकी आज्ञा का पालन करना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझते थे।

बाल्यावस्था के इस अभ्यास के कारण परावसु के स्वभाव में जो विकार आ गया था, उसका उन्हें स्वयं तो कुछ अनुभव नहीं होता था किन्तु महर्षि रैभ्य की अनुभवी आँखें इस ओर सजग थीं। वह परावसु को समय समय पर मधुर चेतावनी और संकेत भी कर दिया करते थे किन्तु परावसु ने पिता की उस चेतावनी को कभी गंभीरता से नहीं लिया। वह यही समझते रहे कि—'ज्येष्ठ को अपने छोटे से छोटी-मोटी सेवा-शुश्रूषा ले लेना अनुचित नहीं है। पिता जी को कोई छोटा भाई नहीं था। अतः उनका इस दिशा का अनुभव अपूर्ण है। मुझे यदि सौभाग्य से अर्वावसु के समान आज्ञाकारी, विनयी तथा विद्वान अनुज मिल गया है तो उसका फल क्यों न भोगा जाय।'

अर्वावसु की विनयशीलता तथा गंभीरता महर्षि रैभ्य के आश्रम की स्वल्प समृद्धि एवं शोभा की पूरक बन गयी थी। सभी छात्र एवं परिवार के लोग उनको बड़े आदर की दृष्टि से देखते और गुरुजनों की उन पर सदैव कृपा दृष्टि रहती, इसके विपरीत परावसु के प्रति आश्रमवासियों की वैसी सद्भावना नहीं थी। वह अपनी स्वाभाविक चंचलता तथा भावुकता से कभी किसी से प्रसन्न होते तो कभी उसी से कोई न कोई छोटा-मोटा विवाद भी ठान देते। धीरे-धीरे आश्रम-धर्म के विपरीत कुछ बुराइयों का भी उनमें संयोग होने लगा। अर्वावसु की जागरूक आज्ञाकारिता को अपना अधिकार समझकर वे धीरे धीरे परिश्रम के कार्यों से बचने का अवसर ढूँढ़ने लगे तथा समय समय पर अपनी विद्वत्ता तथा प्रतिभा से दूसरों को कुण्ठित करने का भी प्रयत्न करने लगे।

वयः प्राप्त होने पर महर्षि रैभ्य ने परावसु को गृहस्थाश्रम की दीक्षा दे दी। उनका विवाह कर दिया और गृहस्थी के लिए उपयोगी साधनों की व्यवस्था कर उन्हें अपने आश्रम में ही कुछ दूर पर एक दूसरे कुटीर में रहने की आज्ञा दे दी। अर्वावसु का अभी ब्रह्मचारी का जीवन चल रहा था। ब्रह्म-तेज की अखण्ड साधना में वह अब भी लीन थे और पिता के आश्रम सम्बन्धी कार्यों में अपना छात्र-जीवन व्यतीत कर रहे थे। बड़े भाई परावसु के प्रति उनके हृदय में पिता के समान ही श्रद्धा थी और आश्रम से पृथक् हो जाने पर भी वे उनकी आज्ञा की पूर्ति को अपना परम कर्त्तव्य समझते थे।

महर्षि रैभ्य के एक प्रिय शिष्य पांचाल नरेश के ज्येष्ठ पुत्र बृहद्युम्न थे। जब बृहद्युम्न युवराज थे तब भी वे अपने योग्य गुरु की सेवा-शुश्रूषा का सदा ध्यान रखते थे। वे उनके अपरिग्रही स्वभाव से परिचित थे और यह भी जानते थे कि उनका गृहस्थ जीवन कितना संकटपूर्ण तथा अभावग्रस्त है। अतएव अपनी राजधानी से

वृहद्युम्न जब तब महर्षि रैभ्य की गृहस्थी के लिए कुछ सामग्रियाँ भेज देते थे और आए दिन उनकी खोज-खबर भी रखते थे।

वृहद्युम्न जब राजा हुए और पांचाल देश के शासन का पूरा भार उनके कंधों पर आया तो वे महर्षि रैभ्य के प्रति अधिक रुचि लेने लगे। जब कभी शासन के कार्यों से अवकाश निकाल पाते तब वह अपनी रानी के साथ महर्षि रैभ्य के आश्रम में आ जाते और उनकी आश्रम तथा गृहस्थी संबंधी कठिनाइयों को दूर कर जाते। उनसे शास्त्र-चर्चा करते और दो-एक दिन आश्रम में ही निवास कर आशीश लेकर राजधानी को वापस लौट जाते। राजा वृहद्युम्न की इस श्रद्धा तथा भक्ति को देखकर महर्षि रैभ्य से कुछ कहते भी नहीं बन पड़ता था। अपने अपरिग्रही तथा संयत स्वभाव के कारण उन्हें राजा की दी हुई भेंटों को स्वीकार करने में संकोच तो बहुत होता था, किन्तु कुछ कह नहीं सकते थे। इस प्रकार महर्षि के उत्तर जीवन में उनके आश्रम की कठिनाइयाँ बहुत कुछ दूर हो गई थीं। किन्तु महर्षि रैभ्य राजा वृहद्युम्न से प्राप्त होनेवाली सामग्रियों को अपने ज्येष्ठ पुत्र परावसु के पास भेज देते और स्वयं अर्वावसु के साथ अपना वही अभ्यस्त संयत जीवन बिताते। उनके जीवन की यात्रा उसी प्रकार तपस्या और साधना से पूर्ण ही बनी रही। राजा वृहद्युम्न की कृपा और श्रद्धा-भक्ति से महर्षि रैभ्य को जो भेंट मिलती, उनके कारण परावसु का गृहस्थ जीवन समृद्ध और सुख पूर्ण होता गया। धीरे-धीरे उनमें राजसी प्रवृत्तियों की अधिकता होती गयी। स्वाध्याय और तपस्या के स्थान पर आराम और निद्रा को उन्होंने विशेष पसन्द किया और साधना, संयम, तथा अपरिग्रह के बदले भोग-विलास, प्रभुत्व और लोभ की ओर झुकते चले गए। यद्यपि उनकी गृहस्थी में सब प्रकार का सुख था, आमोद-प्रमोद के अधिकाधिक राजसी साधन एकत्र हो गए थे, मान-प्रतिष्ठा भी कम नहीं थी तथापि उनके भीतर लाभ और लोभ ने अपना स्थायी निवास बना लिया

था। महर्षि रैभ्य के अपरिग्रही और निर्लोभी जीवन की वह निन्दा करने लगे थे और अपने भाई अर्वावसु तथा माता पिता की ओर से विमुख होकर अपने भौतिक सुख-साधनों की चिन्ता में इतने रम गए थे कि एक ही आश्रम में रहकर भी उधर आना-जाना छोड़ दिया था।

महर्षि रैभ्य परावसु के इस परिवर्तन पर मन ही मन दुःखी रहा करते थे किन्तु कुछ बोलते नहीं थे। बोलना लाभदायक भी नहीं था। परावसु जिस द्रुतगति से भौतिक सुखों की उपासना के पथ पर बढ़ रहे थे, उसे रोकना अब संभव नहीं रह गया था। उनकी उदासीनता का भी विपरीत प्रभाव पड़ा। परावसु कुछ दिनों में बिल्कुल स्वच्छन्द हो गए और अपने जीवन-क्रम में माता पिता और अर्वावसु के हस्तक्षेप की उन्हें कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई।

महर्षि रैभ्य का वह सुखपूर्ण आश्रम अब दो भागों में बँट गया था। एक ओर सब प्रकार का भौतिक सुख था किन्तु शान्ति और सन्तोष के स्थान पर अशान्ति और लोभ का साम्राज्य था और दूसरी ओर अनेक भौतिक अभावों के विपरीत भी अपार सुख और शान्ति का सागर लहरा रहा था। अर्वावसु पूरी निष्ठा और श्रद्धा से अपने महनीय पिता के आश्रम की व्यवस्था को पहले से भी अधिक सुचारु ढंग से चलाए चल रहे थे।

× × ×

इसी प्रकार बहुत दिन तक महर्षि रैभ्य का आश्रम चलता रहा। महर्षि अब वृद्ध हो गए थे और अर्वावसु का भी विवाह हो गया था, बाल बच्चे हो गए थे, किन्तु वह अब भी पूर्ववत् अपने माता पिता की सेवा-शुश्रूषा में दत्तचित्त होकर सब कार्य-भार संभाले हुए थे। आश्रम में राजा बृहद्युम्न का आगमन अब कम हो गया था, किन्तु वर्ष में एकाध बार उनकी राजधानी से अब भी कुछ सामग्रियाँ आ जाती थीं, जिनका उपभोग अकेले परावसु करते थे। अर्वावसु का उनसे कोई प्रयोजन नहीं था।

एक बार राजा बृहद्युम्न ने एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया। उसमें उन्होंने अपने गुरु महर्षि रैभ्य को भी उपस्थित होने का आदर पूर्ण आग्रह का संदेश भेजवाया था किन्तु महर्षि रैभ्य जीवन भर अपना आश्रम छोड़कर कहीं बाहर नहीं गए थे। उन्होंने राजा बृहद्युम्न को अपनी असमर्थता कहला दी और यज्ञ में अपने दोनों पुत्रों को जाने की अनुमति दे दी। पिता की अनुज्ञा से परावसु और अर्वावसु राजा बृहद्युम्न के यज्ञ में सम्मिलित हुए। अर्वावसु अब भी अपने ज्येष्ठ भाई के प्रति पूर्ववत् आदर और श्रद्धा का भाव रखते थे, किन्तु परावसु उन्हें केवल अपनी आज्ञा का ही पात्र समझते थे।

राजधानी में इन दोनों भाइयों के पहुँचने पर राजा बृहद्युम्न का वह महान यज्ञ आरम्भ हुआ। देश के विभिन्न भागों से यज्ञ की सामग्रियाँ एकत्र की गईं तथा सभी प्रख्यात विद्वान, कर्मकाण्डी और पुरोहितों ने उसमें भाग लिया। मुख्य आचार्य का पद भार स्वयं परावसु ने ग्रहण किया और अर्वावसु को उद्गाता के पद पर रखा। यज्ञ का सम्पूर्ण क्रम लगभग दो मास तक चलने वाला था। जब पन्द्रह दिन बीत गए तब आचार्य के पद पर अभिषिक्त परावसु का धैर्य भी बीत गया। आचार्य को यज्ञ मण्डप में एक आसन पर बैठकर सम्पूर्ण यज्ञ क्रियाओं का संचालन करना पड़ता था। सायंकाल से लेकर सन्ध्या तक सब क्रियाएँ चलती थीं। नियमानुसार भोजन भी एक समय करना पड़ता था। ये सब की सब कठिनाइयाँ कुछ कम नहीं थीं। परावसु का जीवन पिछले दस-बारह वर्षों से इसका अभ्यासी नहीं था। वे दुबले होते गए और अन्त में ऐसी स्थिति आ गई कि उन्हें एक दिन भी यह कार्य चलाना कठिन हो गया। उन्हें अपने बाल-बच्चों तथा स्त्री की भी याद सताने लगी। पन्द्रह बीस दिनों से उनका कोई संवाद उन्हें नहीं मिला था। सब ओर से विह्वलता थी। अन्ततः उसी रात को उन्होंने एकान्त में अपने छोटे भाई अर्वावसु को बुलाया और कहा—

'अर्वावसु ! मुझे आश्रम में दो-तीन दिनों के लिए एक ऐसे कार्य के निमित्त वापस जाना है, जो किसी प्रकार भी रोका नहीं जा सकता। तुम मेरे स्थान पर तब तक आचार्य का पद भार सँभालो जब तक मैं आश्रम से वापस नहीं आ जाता। राजा बृहद्युम्न को इस विषय में कोई असन्तोष न हो, मैं समझता हूँ, इसकी व्यवस्था तो तुम कर ही लोगे।'

अर्वावसु ने अपने ज्येष्ठ भाई की यह आज्ञा सहर्ष स्वीकार कर ली और दूसरे दिन राजा बृहद्युम्न को पूर्णतः सन्तुष्ट और सहमत बना कर यज्ञ का कार्य पूर्ववत् आरम्भ कर दिया। अर्वावसु की अपार विद्वत्ता, सच्ची निष्ठा तथा सद्गुणी स्वभाव की विशेषता से यज्ञ की शोभा द्विगुणित हो गयी।

उधर परावसु कामान्ध की भाँति अपने आश्रम को वापस चल पड़े। उन्हें रात में ही अपने आश्रम पहुँचने की शीघ्रता थी। राजधानी से तीन योजन की लम्बी यात्रा कर वे जब अपने आश्रम के समीप पहुँचे तब ब्राह्ममुहूर्त आरम्भ हो गया था। पक्षी बोलने लगे थे तथा पूर्व का क्षितिज सूर्य के आगमन से रक्तवर्ण का होने जा रहा था। तारे मन्द पड़ रहे थे और वायु के शीतल मंद झकोरों से आश्रम के वृक्ष और लताएँ धीरे-धीरे हिल रही थीं।

महर्षि रैभ्य का आश्रम एक छोटी अरण्यानी में था। उसके आस पास यदा-कदा हिंस्र जन्तुओं के उपद्रव भी हो जाते थे। जिस ओर परावसु का कुटीर था उधर कुछ सघन लता-कुंज थे और वन-पशुओं का आवागमन भी उधर ही अधिक होता था। जब परावसु अपने कुटीर के बिल्कुल नजदीक पहुँचने जा रहे थे तो उन्हें एक सघन लता कुंज के समीप जंगली शूकर की सी भयंकर आवाज सुनाई पड़ी। झुटपुटे में वह कुछ निर्धारण भी नहीं कर सके कि यह क्या है। शूकर के भय से वह विचलित हो गए थे। मुनिधर्म की विपरीत प्रवृत्तियों के कारण वह रात में जंगली पशुओं के उपद्रवों

के भय से एक तीक्ष्ण भाला लेकर राजधानी से आश्रम की ओर चले थे, क्योंकि राजसी स्वभाव के अभ्यास वश उन्हें आन्तरिक बल की अपेक्षा अपने बाहुबल एवं शस्त्रबल पर ही अधिक भरोसा था शूकर का सन्देह होते ही उनके शरीर के रोंगटे खड़े हो गए, हृदय काँपने लगा, श्वांस क्रिया तेज हो गयी। वह भाले को हाथ में लेकर द्रुतगति से उस जंगली पशु के ऊपर टूट पड़े और दो ही तीन प्रहारों से उन्होंने उसे धरती पर सुला दिया।

तीक्ष्ण भालों के जिस भीषण आघात से परावसु ने उस शूकर को आहत किया था उससे उन्हें विश्वास था कि वह उन पर पुनः आक्रमण करेगा। क्योंकि वह शूकर के प्रतिकारी स्वभाव से चिर-परिचित थे अतः उन्होंने लगातार दो तीन प्रबल प्रहार एक ही श्वांस में कर दिए थे। भय की अधिकता से उनकी आँखें मुंदी हुई थीं और वह अपने मुख से लगातार कुछ कुवाच्य भी निकालते जा रहे थे। किन्तु उसी क्षण वे अपने पिता महर्षि रैभ्य के भयंकर आर्त्तनाद को सुनकर स्तम्भित हो गए, जो उन्हीं के भाले के भीषण प्रहारों से मृतक होकर धरती पर लुढ़क गए थे। परावसु ने देखा उनके पिता रैभ्य मृगचर्म ओढ़े हुए उस लताकुञ्ज के समीप बैठकर सन्ध्यावन्दन कर रहे थे। सूर्य को अर्घ्य देने वाले जल से पूर्ण उनका कमण्डलु उनके शरीर के गिर पड़ने से लुढ़क कर दूर चला गया था और उनके हाथ की माला अब भी उसी भाँति उनके वक्षस्थल पर पड़ी हुई थी। रैभ्य का वृद्ध और शिथिलित शरीर रक्त से भर गया था और नीचे बिछा हुआ तथा ओढ़ने वाला मृगचर्म रक्त के गिरने से, बीभत्स हो चुका था। उनकी तेजस्विनी आँखें अपार शान्ति से मुंद गई थीं और उनके प्रसन्न मुख पर मृत्यु-विकार की एक क्षीण रेखा भी नहीं थी।

परावसु स्तम्भित होकर शिर थामकर नीचे बैठ गए। गंभीर शोक के इस भयंकर क्षण में उन्हें कुछ भी सुझाई नहीं पड़ा। उन्हें

स्मरण हुआ, महर्षि भरद्वाज के उस शाप का, जिसके द्वारा उन्होंने इनके पिता के इस भयंकर वध की सूचना बहुत वर्षों पहले ही दे दी थी। विधि के इस क्रूर विधान को एक अपरिहार्य घटना मानकर उन्हें कुछ आश्वासन मिला। पिता की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न कर के वे शीघ्र राजा बृहद्युम्न की राजधानी की ओर वापस लौट पड़े और अपने इस कुकृत्य की सूचना उन्होंने अपने छोटे भाई अर्वावसु को भी दे दी।

अर्वावसु पिता की इस कारुणिक मृत्यु से विचलित हो उठे, किन्तु शोकप्रकाश का उचित अवसर न देखकर उन्होंने इस अत्यन्त दुःखदायी संवाद को विष के घूंट के समान चुपचाप ही पी लिया। अपने महान तपस्वी, साधक एवं अपरिग्रही पिता की इस भयंकर हत्या का दोष उन्होंने भी महर्षि भरद्वाज के उस शाप को ही दिया और पिता के समान आदरणीय बड़े भाई परावसु की आज्ञा को पूरा करने में ही अपना कर्त्तव्य समझा। परावसु ने उनसे कहा— 'भाई! पिता के इस भयंकर वध का प्रायश्चित्त तो हमें करना ही होगा। क्योंकि हम यदि प्रायश्चित्त नहीं करते तो राजा का यह महान यज्ञ भी निष्फल और विघ्नपूर्ण हो जायगा। पितृघाती आचार्य के द्वारा सम्पन्न कोई भी यज्ञ कभी निर्विघ्न नहीं हो सकता। मैं यदि आश्रम में जाकर प्रायश्चित्त करने लगूंगा तो राजा बृहद्युम्न को मेरी लंबी अनुपस्थिति से सहज ही चिन्ता हो जायगी। अतः मेरी सम्मति है कि तुम मेरे स्थान पर आश्रम को वापस लौट जाओ और पिता जी के वध का प्रायश्चित्त सम्पन्न करो और मैं पूर्ववत् राजा के यज्ञ का आचार्यत्व सम्पन्न करूँ।'

अर्वावसु ने बड़े भाई परावसु की आज्ञा स्वीकार कर ली और बोले—'तात! आप शोक न करें। अनजान में की गई पिता की हत्या का मैं आपके लिए शास्त्रीय विधि से प्रायश्चित्त सम्पन्न कर लूँगा। आप निर्विघ्न और निःशंक होकर राजा का यज्ञ कार्य सम्पन्न

करें। प्रायश्चित्त की समाप्ति के अनन्तर मैं पुनः आपकी सेवा में सहायतार्थ आ जाऊँगा।'

यह कहकर अर्वावसु ने अत्यन्त चिन्तित एवं शोकाकुल हृदय से अपने आश्रम का मार्ग पकड़ा। अपने श्रद्धेय पिता से सूने आश्रम में पहुँच कर उन्होंने इक्कीस दिनों का निर्जल और निराहार व्रत लिया। केवल वायु के सहारे रहकर उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा और निष्ठा से सभी शास्त्रीय विधियों द्वारा पिता की हत्या का प्रायश्चित्त सम्पन्न किया। उनकी आत्मा की शान्ति के उपाय किए। विविध दान दिए। सहस्रों ब्राह्मणों को भोजन कराया और जप किया। प्रायश्चित्त की सविधि समाप्ति करके वह जब पुनः राजा बृहद्युम्न की राजधानी को वापस लौटे तो उसके शुद्धान्तःकरण की निर्मल आभा से उनका विस्तृत ललाट चमक रहा था और ब्रह्मतेज की कान्ति से मुख मण्डल और नेत्रों की अपूर्व शोभा हो रही थी। उनके निश्छल हृदय में सन्तोष और शान्ति की लहरें विराज रही थीं और बुद्धि विवेक की निष्कलुषता से वह स्वयं सुप्रसन्न हो रहे थे।

किन्तु इधर परावसु की दूसरी ही मनःस्थिति थी। पिता की हत्या के भयंकर पाप ने उनके मस्तिष्क और हृदय को अत्यन्त कलुषित बना दिया था। भरे यज्ञ मण्डप में वेद मंत्रों का सस्वर उच्चारण करते हुए भी वह पिता की हत्या के दोष से संत्रस्त हो जाते थे। उन्हें ऐसा लगता था मानों इस यज्ञ में उपस्थित सभी ऋषि-मुनि उन्हें पितृहन्ता कहकर अपमानित कर रहे हैं। समाज में उनका घोर अनादर हो रहा है और स्वयं उनके पिता महर्षि रैभ्य उनकी आँखों के सम्मुख खड़े होकर उनकी इस दुर्दशा पर आँसू बहा रहे हैं। उनके हृदय में बार बार यह धिक्कार उठता कि—'हत्या तो मैंने की है और प्रायश्चित्त छोटे भाई से करा रहा हूँ। कितना बड़ा अन्याय है यह। वह छोटा भाई, जिसे मैंने कभी आदर नहीं किया। विश्वास नहीं दिया, वह मेरे इस रहस्य पूर्ण पाप को जगत के सम्मुख

प्रकट करके ही रहेगा। उसे मैंने कभी सुख नहीं दिया, सांत्वना नहीं दी, तो भला वही मुझे क्यों अछूता छोड़ देगा।'

कभी वह सोचते 'अर्वावसु यज्ञ में वापस लौटकर मेरे पापों का भण्डा फोड़ करेगा। पिता के आश्रम में भी वह मेरा दुष्प्रचार कर रहा होगा। मैंने उसे आश्रम में अकेला भेजकर बड़ी भूल की। उसका इतना विश्वास कर लिया, जितना कभी नहीं करना चाहिए था। यही नहीं, राजा वृहद्युम्न के इस महान यज्ञ के अन्त में मिलने वाली प्रचुर दक्षिणा में भी वह अपना आधा भाग बँटा लेगा। आधा ही क्यों, यदि उसने कहीं राजा से मेरे पाप का रहस्य बतला दिया तो आधी दक्षिणा भी मुझे नहीं मिलेगी और पिता जी के अनन्य भक्त बृहद्युम्न की इस राजधानी में मेरा फिर कभी आना भी संभव नहीं होगा।'

अर्वावसु के विरुद्ध ऐसी ही अनेक दूषित भावनाओं से परावसु का मस्तिष्क और हृदय कलुषित हो रहा था। प्रत्येक क्षण उठने वाले ऐसे कुविचारों एवं सन्देहों से वह इतने भयभीत हो गए थे कि यज्ञ की क्रियाएँ भी सविधि नहीं सम्पन्न हो रही थीं। दिन भर यज्ञ मण्डप में बैठने के अनन्तर जब वह रात्रि में एकान्त पाते तो ये ही कुविचार उन्हें अत्यन्त सजीव होकर सताने लगते। निद्रा और शान्ति उनसे दूर हो चुकी थी, भोजनादि की भी इच्छा बंद हो गई थी। वह अत्यन्त कृशकाय, निर्बल और तेजोहीन होते जा रहे थे और उन्हें सन्देह हो रहा था कि यदि शरीर और मन की यही स्थिति रही तो वे पागल हो जायँगे।

कभी-कभी उनके मन में उठता कि भरे हुए यज्ञ मण्डप के बीच उठकर राजा वृहद्युम्न को वे अपनी सारी करतूतें बता दें, किन्तु दूसरे ही क्षण लोक-निंदा के अपार भय का स्मरण कर वे सहम जाते। अन्ततः उन्होंने यह निश्चय किया कि पिता की हत्या का यह आरोप क्यों न अर्वावसु पर ही लगाया जाय। वही इतने दिनों

तक राजा के यज्ञ से भी अनुपस्थित रहा है और उधर आश्रम में उसके प्रायश्चित्त का प्रकरण भी सबको ज्ञात है ही। ऐसा करने से वह न केवल पिता की हत्या जैसे घृणित पाप से ही बच जायगा, वरन् राजा के इस महान् यज्ञ की प्रचुर दक्षिणा भी उसे सब की सब मिल जायगी।'

इस कुविचार से परावसु पुलकित हो उठे, उन्हें ऐसा लगा मानों यज्ञ के अधिदेवता देवराज इन्द्र ने ही उन्हें यह विचार दिया हो। इसी विचार को उन्होंने निश्चय का रूप दिया और यह भी तय कर लिया कि अर्वावसु को बदनाम किए बिना उनका कल्याण संभव नहीं है।

दूसरे दिन प्रातःकाल अर्वावसु राजा वृहद्युम्न के यज्ञ मण्डप में जब पहुँचा तो उसका निष्कलुष प्रसन्न मुखमण्डल विशुद्ध ब्रह्मवर्चस-की आभा से देदीप्यमान हो रहा था। उसे देखते ही परावसु का कलुषित और कुविचारों से भरा हुआ हृदय जल उठा। उनका मस्तिष्क और भी विकृत हो उठा। अत्यन्त उदास मुख काला पड़ गया और आँखों से ईर्ष्या की ज्वाला फूट पड़ी। उन्हें ऐसा लगा जैसे अर्वावसु उनका सर्वस्व विनाश करने की तैयारी कर के यहाँ आया है। थोड़ी देर तक वे उसकी ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते रहे। जब उसने अत्यन्त समीप आकर परावसु के चरणों पर अपना शिर झुका कर दण्डवत् प्रणाम करने का उपक्रम किया तो भरे यज्ञ मण्डप को विस्मय के समुद्र में डुबोते हुए परावसु अपने आसन से उठकर दूर खड़े हो गए और भय विकम्पित स्वर में जोर से बोल पड़े—

—'राजपुरुषो! दौड़ो और इस पितृहन्ता पापी को यज्ञ-मण्डप से बाहर निकाल दो। हमारे पिता जैसे पुण्यात्मा महर्षि की हत्या करके यह इस पवित्र यज्ञ मण्डप में भला कैसे प्रवेश कर सकता है।'

राजा वृहद्युम्न समेत समस्त यज्ञ मण्डप यह हृदयवेधी दुःसंवाद सुनकर स्तम्भित हो गया। महर्षि रैभ्य की पुण्यशीलता एवं उच्च

साधना से सभी सुपरिचित थे और सब की उनके प्रति अनन्य निष्ठा थी। उनकी नृशंस हत्या की इस आकस्मिक चर्चा से सब आतंकित हो गए। राजा वृहद्युम्न अवाक होकर आँसू बहाने लगे और अन्य ऋषियों मुनियों का हृदय भी उमड़ पड़ा। थोड़ी देर तक यह स्तब्धता चली। अर्वावसु ने देखा, उसके बड़े भाई परावसु का शरीर काँप रहा है और मुख तथा आँखों की भंगिमा अत्यन्त कुटिल होती जा रही है। पिता की हत्या का वह महा भयंकर पाप अभी परावसु के हृदय में प्रशान्त नहीं हुआ है। वह अत्यन्त विस्मित होकर अपलक नेत्रों से परावसु की ओर देखने लगा।

किन्तु उधर यज्ञमण्डप में सबका ध्यान भंग करते हुए परावसु फिर चिल्लाए—'राजन्! इस पितृहन्ता को पवित्र यज्ञ मण्डप में देर तक खड़े रहने देना उचित नहीं है। इसे शीघ्र यहाँ से दूर हटाइए, अन्यथा यज्ञ का समस्त पुण्य नष्ट हो जायगा। पूज्य पिता जी आप के आराध्य गुरु थे। उनकी हत्या कर इस पापी ने आपका भी अत्यन्त अहित किया है। इसे शीघ्र ही अपनी आँखों से दूर हटाइए।'

परावसु की इस मार्मिक वाणी को सुनकर राजा वृहद्युम्न का रहा-सहा धैर्य भी छूट गया। उन्होंने राजपुरुषों को आज्ञा दी कि पापात्मा अर्वावसु को शीघ्र यज्ञ मण्डप से दूर कर दिया जाय। राजा की इस आज्ञा को सुनकर दुःखावेग से अर्वावसु का मुख लाल हो गया। आँखें सजल हो गईं। बड़े भाई की हीन दशा की यह शोचनीय अवस्था आएगी—इसका उसे कभी अनुमान भी नहीं था। राजपुरुषों ने उसे पकड़कर जब यज्ञ मण्डप से बाहर ढकेलने का प्रयास किया तो उससे रहा नहीं गया। अपनी धीर गंभीर किन्तु करुण वाणी में सबको स्तम्भित करते हुए उसने कहा—'राजन्! आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। किन्तु मैं आपको तथा आपकी सभा को यह बता देना चाहता हूँ कि मैंने अपने पूज्य पिता की हत्या

नहीं की है, हत्या का प्रायश्चित्त मैंने अवश्य किया है। पिता की हत्या करने वाला तो स्वयं आप के यज्ञ मण्डप में ही विद्यमान है।'

अर्वावसु की यह मूर्खता भरी बातें सुनकर सभी उसे धिक्कारने लगे। राजा ने कहा—'यदि आपने हत्या नहीं की थी तो आपको प्रायश्चित्त करने को क्या आवश्यकता थी। सच है, पिता की हत्या जैसे महापाप से आपकी बुद्धि प्रतिहत हो गयी है। आप शीघ्र ही हमारे यज्ञ मण्डप से दूर चले जायँ।'

राजा की इस बात का सभी ने समर्थन किया। कुछ लोग कहने लगे—'देखो न, इसकी धृष्टता। एक तो पिता की नृशंस हत्या करके आ रहा है, दूसरे इस प्रकार का झूठ बोलते हुए इसे तनिक भी संकोच नहीं हो रहा है। अपना दोष अपने पूज्य बड़े भाई पर डालते हुए भी इसे भय नहीं हो रहा है। अवश्य ही इस महापाप ने इसकी बुद्धि को भी कुण्ठित कर दिया है।'

राजपुरुषों ने अर्वावसु को जब यज्ञ मण्डप से बाहर निकाल दिया तब परावसु कुछ आश्वस्त तो हुए, किन्तु उनका हृदय अब भी काँप रहा था और उनके माथे पर परेशानी की बूँदे छाई थीं। कुछ क्षण तक चुप रह कर उन्होंने यज्ञ का कार्य पुनः पूर्ववत् संचालित किया।

उधर यज्ञमण्डप में अपमानित होकर निष्कासित अर्वावसु ने गहन जङ्गल का मार्ग लिया। अपने बड़े भाई की कुबुद्धि और यज्ञ-मण्डप में प्रकट किए गए अपने क्रोध के स्मरण से वह विचलित हो गया था। उसने निश्चय कर लिया कि अभी पिता जी की नृशंस हत्या का यथोचित प्रायश्चित्त नहीं हुआ है। क्योंकि यदि यथोचित प्रायश्चित्त हुआ होता तो इस प्रकार की कुबुद्धि और क्रोध प्रकट करने की स्थिति ही नहीं आती। जङ्गल में पहुँचकर उसने निराहार और निर्जल रहकर पिता की नृशंस हत्या के पाप को प्रशान्त करने के निमित्त कठोर तपस्या आरम्भ कर दी। एक आसन पर ध्यान-

मग्न होकर वह इस संकल्प के साथ जप करने बैठ गया कि—'जब तक देवराज इन्द्र स्वयं आकर मुझे नहीं उठाएँगे तब तक मैं नहीं उठूँगा।'

अर्वावसु की अखण्ड तपस्या के कई दिन बीत गए। न वह अपने आसन से हिला न डुला। उसकी कठोर तपस्या की चर्चा से न केवल भूमण्डल ही अपितु स्वर्ग समेत देवराज इन्द्र का आसन भी हिल गया। उन्हें निरुपाय होकर अर्वावसु के सम्मुख आना ही पड़ा। अपनी अभय वरदायिनी मुद्रा में वह अर्वावसु को ध्यान भंग करने का आश्वासन देते हुए प्रसन्न वाणी में बोले—

—'आयुष्मान् अर्वावसु! तुम्हारी इस अविचल और कठोर तपस्या से मैं परम प्रसन्न हूँ। तुम्हारे जैसे निष्ठावान् साधक और तपस्वी को पाकर यह धरती धन्य हुई है। महर्षि रैभ्य की जीवन व्यापिनी तपस्या और साधना की तुम उज्ज्वल मूर्ति हो! महर्षि भरद्वाज के शाप से जो अनर्थ अवश्यम्भावी था, वह किसी से टाला नहीं जा सकता था। तुम्हारे परिवार को पिता की हत्या के शाप से तो प्रायश्चित द्वारा ही मुक्ति मिल चुकी है और महर्षि रैभ्य की आत्मा को भी मुक्ति प्राप्त हो चुकी है। तुम फिर किस निमित्त यह कठोर तप कर रहे हो। मैं तुम्हारे अभीष्ट को प्रदान करने के लिए ही तुम्हारे समीप आया हुआ हूँ। बोलो, तुम क्या चाहते हो।'

देवराज इन्द्र को अपने नेत्रों के सम्मुख विराजमान देखकर ऋषि-कुमार अर्वावसु धन्य हो उठा। अपनी साधना की इस अपूर्व सफलता से वह कृतार्थ हो गया। गद्गद वाणी में बोला—'देवराज! आपने दर्शन देकर मुझे कृतार्थ किया—इससे बढ़कर भला दूसरा कौन सा मेरा अभीष्ट हो सकता है। किन्तु फिर भी मैं चाहता हूँ कि मेरे ज्येष्ठ भाई परावसु का अन्तःकरण निष्कलुष हो जाय। उनकी मति अचंचल तथा निर्मल हो जाय और वे पूर्ववत् हमारे पिता जी के आश्रम की उच्च मर्यादा की रक्षा करने में तत्पर हो जायँ। राजा बृहद्युम्न की कृपा से पिता जी के आश्रम में जो कुछ धन-सम्पत्ति एवं गृहस्थोपयोगी

सामग्रियाँ आती थीं, उनका एकमात्र उपभोग करने के कारण उनकी मति एवं चेतना विकृत हो गई है। पिता की नृशंस हत्या के पाप के भय से भी उनका हृदय चंचल हो गया है। मेरी प्रार्थना है कि आप उन्हें सब प्रकार के पाप-ताप से मुक्त करें।'

देवराज ने प्रसन्नता से भरी वाणी में अर्वावसु को हृदय से लगाते हुए कहा—'ऋषिकुमार अर्वावसु! तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हो। तुम अपने कुल के उद्धारक हो और तुम्हारी निष्कलुष और स्थिर मति सब का कल्याण करने वाली है। तुम वास्तव में ऋषि हो। मैं ऋषिकुमार परावसु को पापमुक्त करता हूँ और यह भी आशीश देता हूँ कि उनकी सुबुद्धि और चेतना का पूर्ववत् उदय हो और वे पिता के आश्रम की उज्ज्वल मर्यादा की रक्षा करें।'

अर्वावसु की इस सफलता पर देवताओं ने आकाश से पुष्प वृष्टि की और उस अरण्य की धरती ने महामंगल मनाया। दिशाओं का मुख प्रसन्न हो गया और वायु के शीतल सुखदायी झँकोरों ने इस शुभ संवाद को क्षण भर में ही सर्वत्र फैला दिया। उधर परावसु की कलुषित चेतना में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया। उसने राजा वृहद्युम्न की भरी सभा में महर्षि भरद्वाज के शाप की चर्चाकर अपना दोष स्वयं स्वीकार किया और अपने छोटे भाई अर्वावसु के अपमान के लिए अत्यन्त खेद प्रकट करते हुए प्रायश्चित्त के रूप में अपने शरीर को त्याग देने का निश्चय किया। किन्तु वहीं पर देवराज की प्रेरणा से परावसु को पापमुक्त होने की सूचना देते हुए अशरीरिणी वाणी प्रकट हुई। उसने कहा—

'ऋषिकुमार परावसु! तुम्हारे सुयोग्य अनुज अर्वावसु की कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर देवराज ने तुम्हें पापमुक्त कर दिया है। तुम इस विषय में बिल्कुल निर्दोष थे। महामुनि भरद्वाज के शाप से घटित इस दुर्घटना में तुम्हारा कुछ भी हाथ नहीं था। तुम व्यर्थ का शोक न करो। जिस महान अनर्थकारी शाप के कारण महर्षि रैभ्य की

हत्या हुई उसी ने तुम्हारी बुद्धि भी विकृत कर दी थी। किन्तु देवराज की कृपा से महामुनि भरद्वाज का वह शाप अब निष्प्रभाव हो चुका है।'

राज सभा ने ऋषिकुमार परावसु का अभिनन्दन किया और राजा बृहद्युम्न ने अर्वावसु को साग्रह अपनी राजसभा में बुलाकर अपने अपराधों की क्षमा याचना की।

महर्षि रैभ्य के उन दोनों सुयोग्य पुत्रों में पुनः पूर्ववत् प्रगाढ़ प्रेम सद्भाव और सौहार्द का उदय हुआ। अपनी अमन्द प्रतिभा और साधना से उन्होंने अपने महान पिता के आश्रम एवं जीवन-यापन की उज्ज्वल परम्परा का विधिवत् पालन किया।

यवक्रीत का दुरभिमान

महर्षि भरद्वाज के पुत्र यवक्रीत तथा रैभ्य के पुत्र परावसु और अर्वावसु में पटती नहीं थी। यद्यपि ये तीनों चचेरे भाई थे और एक ही आश्रम में निवास करते थे तथापि विद्या-बुद्धि की स्पर्द्धा के कारण उनमें बड़ी ईर्ष्या थी। रैभ्य के दोनों पुत्रों की प्रखर प्रतिभा, विनयशीलता तथा विद्याभिरुचि को देखकर भरद्वाज पुत्र यवक्रीत को बड़ी जलन होती थी और वह दिन-रात अपने स्वाध्याय और परिश्रम को छोड़कर उनके अनिष्ट की चिंता में ही लीन रहता था। अर्वावसु और परावसु को यवक्रीत की यह जलन ज्ञात न हो—ऐसी बात नहीं थी, वे यवक्रीत के कुकृत्यों तथा दुर्भावनाओं को भलीभाँति जानते थे, किन्तु उन्हें अपने स्वाध्याय एवं कर्त्तव्य के प्रति गहरी निष्ठा थी। यवक्रीत की दुर्भावनाओं की कोई चिन्ता न कर वे अपने प्रगति-पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते जा रहे थे। नवयुवक सुलभ उत्तेजना तथा असहिष्णुता की भावना उनमें भी विद्यमान थी और वे कभी-कभी यवक्रीत की करतूतों से परेशान होकर उपद्रुत भी हो जाते थे। किन्तु शान्तिप्रिय महर्षि रैभ्य की शिक्षा और तर्जना से उनमें यह साहस नहीं होता था कि कोई दुष्कर्म करें। किन्तु उधर महर्षि भरद्वाज और उनके पुत्र यवक्रीत की मनःस्थिति दूसरी थी। महर्षि भरद्वाज को भी रैभ्य की बढ़ती हुई कीर्तिकौमुदी तथा उनके युगल-पुत्रों की उज्ज्वल प्रतिभा, सुरुचि तथा विद्या-निपुणता कभी-कभी दुःख दे जाती थी। समाज में उनकी लोकप्रियता दिनानुदिन बढ़ती जा रही थी। उनके तप, त्याग, स्वाध्याय और निरपेक्ष जीवन को सभी आदर की दृष्टि से देखते थे। उनके दोनों पुत्रों में भी पिता के इस स्पृहणीय जीवन की छाप पड़ चुकी थी, जिसकी सर्वत्र चर्चा

होती थी, भरद्वाज को भी इन सब प्रसंगों से थोड़ी ईर्ष्या होती थी। अपने प्यारे पुत्र की जलन को यद्यपि वह भी प्रकटतः बुरा समझते थे, तथापि भीतर से वह भी उसकी उपेक्षा ही करते थे।

वय के साथ यवक्रीत की परेशानी दिनानुदिन बढ़ने लगी। शास्त्रीय ज्ञान, एवं सदाचरण के पवित्र पथ पर अग्रसर परावसु और अर्वावसु को जहाँ उज्ज्वल विवेक, शान्ति, सन्तोष और गंभीरता मिलती गई, वहीं यवक्रीत का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। उसका अन्तःकरण अत्यन्त मलिन और अशान्त होता गया। जहाँ पहले लुक-छिपकर वह रैभ्य और उनके पुत्रों का अहित-चिन्तन करता था वहीं अब वह प्रकट रूप में उनका अपमान और अहित करने लगा। किन्तु उसकी आशा के विपरीत रैभ्य और उनके पुत्रों पर जब उसकी इन दूषित प्रवृत्तियों का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ने लगा, तब वह अत्यन्त उद्दण्ड हो गया। स्वाध्याय और सदाचरण के द्वारा उनकी समानता की आशा उसे धुँधली दिखाई पड़ने लगी। क्योंकि वह समझ गया कि रैभ्य के पुत्रों के समान उसकी निर्मल मति नहीं है। उनके समान वह प्रतिभाशाली भी नहीं है। विद्याध्ययन में उनके जितना परिश्रम भी वह नहीं कर सकता और समाज में लोकप्रियता प्राप्त करने के जो अन्यान्य गुण होते हैं, उनकी भी उसमें कमी है। निदान वह प्रवृत्ति मार्ग छोड़कर प्रतिगामी हो गया और सब प्रकार से रैभ्य और उनके पुत्रों की निन्दा, भर्त्सना, अप्रतिष्ठा और अपस्तुति को ही अपना व्यसन बना लिया। यज्ञ, तप, स्वाध्याय और सदाचरण की चिन्ता बिल्कुल ही छूट गई और एक अपराधी के समान वह ह्रास और नरक के इन राजमार्गों पर निर्भय दौड़ने लगा। महर्षि भरद्वाज को अपने पुत्र यवक्रीत की इन कुप्रवृत्तियों के कारण थोड़ी-बहुत चिन्ता तो अवश्य हुई, किन्तु एकलौता पुत्र होने के कारण उसकी इच्छाओं का हनन करना भी उनके वश में नहीं रह गया था। वह चुपचाप तटस्थ रहने लगे।

यवक्रीत का उपद्रव धीरे-धीरे बढ़ने लगा। रैभ्य और उनके पुत्रों का जीवन अनेक संकटों से भर गया। उन्हें भय होने लगा कि किसी दिन उनकी हत्या न कर दी जाय, क्योंकि उद्दण्ड और विवेकशून्य यवक्रीत कुछ भी कर सकता था। परस्पर के दुर्भाव तथा असौहार्द के कारण महर्षि भरद्वाज तथा रैभ्य में भी बोलचाल बंद हो गई और दोनों एक दूसरे से दूर होते गए। जब स्थिति विषम हो गई और यहाँ तक आ पहुँची कि एक दूसरे को देखना भी बुरा समझने लगे तो महर्षि रैभ्य ने भरद्वाज का आश्रम ही त्याग दिया। वे गंगा के पावन तट पर चलकर भरद्वाज आश्रम से कुछ योजन दूर चले गए और वहीं अपने पुत्रों के साथ नूतन आश्रम बनाकर रहने लगे।

इधर रैभ्य के चले जाने के अनन्तर भरद्वाज-आश्रम सूना हो गया। महर्षि भरद्वाज दो चार दिनों तक तो बहुत उदास रहे, किन्तु परिवार में दिन दिन का बढ़ता हुआ वैमनस्य दूर करने का कोई सुगम उपाय भी नहीं रह गया था। रैभ्य के चले जाने से उनकी थोड़ी बहुत लोक-निन्दा भी हुई और देश के कोने कोने से आने वाले लोगों को बड़ी निराशा हुई, किन्तु वे चुप ही बने रहे, क्योंकि यवक्रीत के स्वभाव में रैभ्य और उनके पुत्रों की अभ्युन्नति से जो विकृति आ रही थी, उसकी उपेक्षा करना उनके लिए भी सरल नहीं रह गया था। जब रैभ्य चले गए तब यवक्रीत को थोड़ी शान्ति मिली, किन्तु फिर भी वह उनके पुत्रों के प्रवहमान यशःसौरभ से अब भी क्षुब्ध था। उसे यह लालसा थी कि विद्या के क्षेत्र में अर्वावसु और परावसु को पराजित किए बिना इस संसार में जीवन व्यर्थ है। महर्षि भरद्वाज ने भी उसे अब इस प्रकार के दूषित जीवन को छोड़-कर सदाचरण और स्वाध्याय की मुनिजनोचित प्रवृत्तियों को अपनाने का सदुपदेश किया, किन्तु यवक्रीत का उस पथ पर पुनः वापस लौटना बड़ा कठिन था। क्योंकि कुप्रवृत्तियों का वेगवान प्रवाह जल-प्रवाह के समान जब किसी हतभाग्य प्राणी को अपने संग दूर बहा

ले जाता है तो उसका उबरना कठिन हो जाता है। यवक्रीत की सत्क्रियाएँ विलुप्त हो चुकी थीं, स्वाध्याय, यज्ञ, तप और शील सदाचार की बातें अब उसका मन तनिक भी नहीं मोहती थीं। निन्दा, अपमान और गर्व से बड़ी बड़ी बातें बनाने की उसमें आदत पड़ गई थी, यद्यपि महर्षि रैभ्य और उनके पुत्र अब उसके पिता के आश्रम में नहीं थे, तथापि अब भी वह दिन भर में दस-पाँच बार उनका स्मरण कर उन्हें अपमानित और अप्रतिष्ठित बनाने वाली चर्चाएँ तो चलाया ही करता था। पिता के सदुपदेश के कारण चार छः दिनों तक उसने पुनः स्वाध्याय की चेष्टा की, किन्तु वह चेष्टा निष्फल ही रही। अब शास्त्रों के गंभीर चिन्तन से वह बचना चाहता था, तपस्या की शरीर सुखाने वाली कठिनाइयों को व्यर्थ मानता था, यज्ञ, तप और दान की चर्चाओं से घबराता था और शील-समुदाचार की बातों को कायरों का प्रलाप समझता था। राजसी वृत्तियों ने उसके मुनिधर्म को कीलित कर दिया था और वह मन ही मन अपने पिता के सदुपदेशों की सार्थकता पर भी अविश्वास कर रहा था।

महर्षि भरद्वाज को यवक्रीत की इस मनःस्थिति का जब पता लगा तो उन्होंने एक दिन एकान्त में बुलाकर यवक्रीत से गंभीर वाणी में कहा—'वत्स! मैं देख रहा हूँ, इधर तुम स्वाध्याय और शील-सदाचरण से बिल्कुल दूर होते जा रहे हो। अर्वावसु और परावसु दोनों तुमसे छोटे हैं, किन्तु उनकी लोक-प्रतिष्ठा और कीर्ति कितनी उज्जवल है। उनकी इस कीर्ति का कारण उनकी विद्या, विनय, सदाचार परायणता और प्रतिभा ही है। जब तक वे आश्रम में थे, तब तक तो तुम उनकी ईर्ष्या से ही सब कुछ छोड़कर उनके अपमान और अप्रतिष्ठा की बातें किया करते थे, किन्तु अब तो वे तुम्हारा आश्रम छोड़कर बहुत दूर जा चुके हैं। अब तो तुम्हें अपना सात्विक जीवन आरम्भ ही कर देना चाहिए।'

यवक्रीत को पिता की बातों से धक्का लगा। वह थोड़ा अप्रतिभ भी हुआ। किन्तु क्षणभर बाद ही उदास मुख से बोला—'पूज्य तात! अर्वावसु और परावसु की प्रतिष्ठा और कीर्ति के कारण ही मेरी यह दशा हुई है। स्वाध्याय में मेरा मन नहीं लगता और प्रयत्न करने पर भी मैं अब शील-सदाचार की बातें नहीं अपना पाता। मेरी चित्तप्रवृत्तियाँ अशान्त और दूषित हो चुकी हैं। कृपाकर ऐसा कोई उपाय बताइए, जिससे मैं अपना कर्त्तव्य पालन कर सकूँ। मैं स्वयं इसी चिन्ता में था।'

भरद्वाज कुछ गंभीर हुए। पुत्र की निश्छल बातों में उन्हें कुछ आश्वासन मिला। बोले—'वत्स! तुम्हारे चित्त की वृत्तियों को सुधारने का मार्ग तपस्या और स्वाध्याय ही है। अब ईर्ष्या-द्वेष की दूषित भावना तुम अपने मन के भीतर से निकाल दो। सब प्राणियों के कल्याण की चिन्ता करो। चित्तवृत्तियों को वश में करो और कभी भूलकर भी किसी की अहित चिन्ता मत करो।'

यवक्रीत ने पिता की आज्ञा को स्वीकार किया। मन को वश में करने के लिए उसने अनेक उपवास किए, व्रतों का अनुष्ठान पूरा किया, एकान्त में निवास किया और दूषित भावनाओं को भूलने का प्रयत्न किया। किन्तु फिर भी उसे सफलता नहीं मिली। रह-रहकर अर्वावसु और परावसु की प्रतिष्ठा और कीर्ति की स्मृति उसे विचलित कर देती। समूचे संकल्प और सद्विचार समाप्त हो जाते और रह-रहकर उन्हीं के समान विद्या और प्रतिष्ठा प्राप्त करने की चिन्ता में आतुर हो उठता।

जब कई महीनों तक यही स्थिति बनी रही और किसी प्रकार से भी चित्त शान्त नहीं हुआ तो यवक्रीत ने उत्कट तपस्या द्वारा विद्या और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प किया। उसने निश्चय किया कि चाहे शरीर ही क्यों न नष्ट हो जाय, किन्तु उत्कृष्ट विद्या और उज्ज्वल कीर्ति का वरदान प्राप्त किए बिना तपस्या भंग नहीं

करूँगा। अपने पिता भरद्वाज की आज्ञा लिए बिना ही यवक्रीत कठोर तप के लिए अपने पिता के आश्रम से बाहर चला गया। गंगा के दक्षिण तट पर अपने आश्रम से दूर जाकर उसने अपनी तपस्या आरम्भ कर दी। अनेक महीनों तक अन्न का त्याग कर वह केवल फल-फूल पर निर्भर रहा, फिर फल-फूल भी त्याग दिए और जल तथा वायु पर टिका रहा। योगाभ्यास से शरीर और चित्तवृत्तियों को वश्य करके उसने अनेक महीने तक केवल वायु का पान किया। उसके प्रचण्ड तप की ज्वाला से तपोवन दग्ध होने लगा। देवताओं को कठिन चिन्ता हुई। देवराज इन्द्र ने सोचा कि संभवतः यवक्रीत अपने कठोर तप द्वारा हमारा आसन छीनने का उद्योग कर रहा है।

देवराज की चिन्ता जब उत्तरोत्तर बढ़ती गई तो उन्होंने यवक्रीत से जाकर भेंट की। गंगा के पावन तट पर पहुँच कर उन्होंने यवक्रीत का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। यवक्रीत की साधना उज्ज्वल हो चुकी थी। तपस्या के तेज से देदीप्यमान उसका मुख मण्डल देवराज इन्द्र को देखकर सुप्रसन्न हो उठा। उसने सोचा, देवराज की कृपा से अब हमारी चिन्ता अवश्य दूर होगी, किन्तु उसे उस समय बहुत निराश होना पड़ा, जब इन्द्र ने कहा—

'ऋषिकुमार! तुम किसलिए यह कठोर तप करके अपना शरीर दुर्बल कर रहे हो। मैं समझता हूँ किसी कामना की सिद्धि के लिए युवा शरीर को इस प्रकार कष्ट देना उचित नहीं है।'

यवक्रीत बोला—'भगवन्! मैं अर्वावसु और परावसु के समान विद्या प्राप्ति के लिए यह कठोर तप कर रहा हूँ।'

इन्द्र हँसने लगे। बोले—'ऋषिकुमार! विद्या प्राप्ति के लिए गुरु की शुश्रूषा तथा स्वाध्याय की आवश्यकता है। कोरी तपस्या के द्वारा विद्यालाभ संभव नहीं है। तुम अपने पिता और पितृव्य जैसे अद्वितीय आचार्यों को छोड़कर तपस्या द्वारा विद्या की प्राप्ति नहीं

कर सकते। तुम अभी नवयुवक हो। तुम्हारा कोमल सुन्दर शरीर तपस्या की कठिन यातनाओं से अतिक्षीण हो गया है। जितना कष्ट तुम तपस्या में उठा रहे हो, अध्ययन में उससे कम ही कष्ट होगा। अब तुम्हें इस प्रकार कष्ट उठाने की आवश्यकता मैं नहीं देखता।'

यवक्रीत विचलित हो उठा। देवराज की निराश वाणी को इससे अधिक सुनने की क्षमता उसमें नहीं थी। वह बोला—'देवराज! मैं स्वाध्याय द्वारा विद्या लाभ की आशा छोड़ चुका हूँ। मेरा मन अध्ययन-अध्यापन में तनिक भी नहीं लगता। सुनता हूँ तपस्या सभी सिद्धियों की दात्री है, अत: मैं उसके द्वारा ऐसी विद्या प्राप्त करना चाहता हूँ, जैसी संसार में किसी के भी पास नहीं है।' इन्द्र ने यवक्रीत को निराश करने की चेष्टा की। कहा—'ऋषिकुमार! तपस्या द्वारा विद्यालाभ की आशा छोड़कर तुम्हें अपने पिता के आश्रम में वापस जाना चाहिए। स्वाध्याय ऋषियों का सहज धर्म है। यदि तुम स्वाध्याय से वंचित रहोगे तो तुम्हारी तपस्या से प्राप्त विद्या का सुयश तुम्हें नहीं मिलेगा।'

इतना कहकर इन्द्र अन्तर्धान हो गए। निराशा से उद्विग्न यवक्रीत का चित्त तपस्या से विचलित हो गया था। वह बड़ी देर तक अशान्त बना रहा। देवराज की बातें उसकी समझ में नहीं आईं। अन्त में निराश होकर उसने पुनः तपस्या का मार्ग अपनाने का ही निश्चय किया।

द्वितीय बार यवक्रीत ने अति घोर तपस्या का आरम्भ किया। एक चरण पर टिककर उसने ऊर्ध्वबाहु होकर देवराज के मंत्र का जाप आरम्भ किया। भूख, प्यास, निद्रा तथा विश्राम को भी छोड़ दिया। कुछ दिनों के अनन्तर उसने अपने चारों ओर अग्नि जलाई और उसके बीच में बैठकर मंत्र का जाप शुरू किया। उसका शोभन शरीर इस कठोर तपस्या की यातना से अत्यन्त क्षीण और कृष्णवर्ण

का हो गया, किन्तु आन्तरिक निष्ठा तथा श्रद्धा के कारण उसके मुखमण्डल की आभा उत्तरोत्तर चमकने लगी।

देवराज इन्द्र को यवक्रीत की चिन्ता लगी ही रहती थी। वे दिन-रात उसकी चौकसी में रहते थे। उसके कठोर तप को सहन करना जब उनके वश में नहीं रह गया तो उन्होंने एक वृद्ध ब्राह्मण का वेश धारण किया। सत्तर वर्ष के वृद्ध ऋषि का वेश धारण कर वह यवक्रीत के सम्मुख ही एक लकुट लेकर अवतीर्ण हुए। और गंगा तट पर पहुँच कर बड़ी देर तक इधर-उधर टहलते रहे। बड़ी देर बाद जब यवक्रीत की तपस्या का एक क्रम पूरा हुआ और वह गंगा तट पर स्नान के लिए आया तो उस वृद्ध ब्राह्मण को उन्होंने गंगा की धारा में मुट्ठी भर भर कर बालू फेंकते हुए पाया। थोड़ी देर तक तो वह चुपचाप उस वृद्ध की ओर देखते रहे, किन्तु जब देखा कि उस वृद्ध पुरुष में अपार तेजस्विता है और देखते ही ध्यान को आकृष्ट करने की अद्भुत क्षमता है तो उसके इस क्षुद्र व्यापार की ओर वह अधिक जिज्ञासा के भाव से देखने लगा।

यवक्रीत को खड़े-खड़े एक घड़ी से अधिक हुआ, किन्तु उस तेजस्वी वृद्ध पुरुष का वह निष्फल व्यापार पूर्ववत् चलता रहा। उसने एक बार भी यवक्रीत की ओर न देखा और न किसी दूसरी ओर ही अपना ध्यान बँटाया। यवक्रीत का रहा-सहा धैर्य अब तक जाता रहा। अधीर होकर उस तेजस्वी वृद्ध पुरुष के प्रति उसने ससंकोच प्रणाम भाव प्रकट करते हुए कहा—'महापुरुष! आप आकृति से कोई महात्मा मालूम पड़ रहे हैं, किन्तु आपका यह व्यापार मुझे कुतूहल में डाल रहा है। गंगा की इस अपार जल राशि और प्रखर धारा में मुट्ठी भर बालू डालने का क्या परिणाम हो सकता है? आपका यह व्यापार किस प्रयोजन का कारण है। यदि अनुचित न हो तो मुझे भी इसकी जानकारी दें।'

वृद्ध ने यवक्रीत की बातें अनसुनी कर दी। वह अपने व्यापार में

पूर्ववत् लगा रहा। यवक्रीत को लगा कि वृद्ध बहरा मालूम पड़ रहा है। साहस बटोर कर वह उसके समीप पहुँच गए और प्रबुद्ध स्वर में अपनी जिज्ञासा को फिर से दुहराया। किन्तु वृद्ध ने मुस्कराते हुए अपना व्यापार फिर भी चालू ही रखा। कुछ क्षण पश्चात् जब यवक्रीत अधीर होने लगे तो वह उपेक्षा के स्वर में बोला—

'गंगा के उस पार जाने में प्रतिदिन कठिनाई उठानी पड़ती है। कभी नाव मिलती है, कभी नहीं मिलती। इस पर यदि एक पुल बना लिया जाय तो बिना किसी बाधा के उस पार पहुँचा जा सकेगा।'

यवक्रीत हँसने लगा। बोला—'वृद्ध महापुरुष! आप देखने में साधक मालूम पड़ते हैं। आपके शरीर में जीवन के सभी क्षेत्रों के अनुभव के लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं, किन्तु मुझे आपका यह निष्फल व्यापार देखकर यह कहना पड़ता है कि आपकी बुद्धि अबोध बच्चों जैसी है। भला मुट्ठी भर बालू से कहीं गंगा की इस अगाध जल राशि और प्रचण्ड धारा में पुल बनाया जा सकता है?'

वृद्ध पुरुष खड़ा हो गया। उसके मुख की मुस्कराहट अब गंभीर बन गई थी। वह स्फुट वाणी में बोला—'नवयुवक तपस्विन्! जब तुम तपस्या द्वारा अनुपम विद्या की प्राप्ति करना चाहते हो तो मैं मुट्ठी भर बालू से गंगा में पुल क्यों नहीं बना सकता।'

यवक्रीत की बुद्धि ठिकाने आ गयी। कुछ क्षण के लिए वह चुप हो गया। फिर विनय भरी वाणी में बोला—'महापुरुष! क्या मेरी यह उत्कट तपस्या बालू के पुल के समान है, जो आप इसका उपहास कर रहे हैं। शास्त्रों में बताया गया है और बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों का भी यही कथन है कि तपस्या से संसार की सभी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं।'

वृद्ध बोला—'वत्स! मैं तपस्या को बालू का पुल नहीं बता रहा हूँ। जिस प्रकार अकेले बालू द्वारा गंगा में पुल नहीं बनाया जा

सकता। पुल बनाने के अन्यान्य मसालों में ही बालू मिलाई जा सकती है, उसी प्रकार केवल तपस्या द्वारा उच्च विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती, स्वाध्याय और गुरु-सेवा के साथ ही तपस्या सहायक बन सकती है। तुम्हें तपस्या के साथ-साथ स्वाध्याय की भी शरण लेनी होगी, तभी उच्च विद्या की प्राप्ति हो सकती है।'

यवक्रीत हतप्रभ हो गया। उसने समझ लिया कि यह वृद्ध कोई अन्य महापुरुष नहीं, स्वयं देवराज इन्द्र ही हैं। किन्तु वह निराश नहीं हुआ। अपने दृढ़ निश्चय को प्रकट करते हुए बोला—'महापुरुष! कुछ भी हो, मुझे तो अपनी तपस्या के द्वारा ही वह उच्च विद्या प्राप्त करनी है। यदि आप मेरी तपस्या से प्रसन्न नहीं हैं तो मैं अब अपने हाथों और पैरों को ही अग्नि में डाल कर आपका मंत्र जाप करूँगा। मुझे देखना है कि तपस्या द्वारा सिद्धि क्यों कर नहीं मिलेगी?'

इन्द्र ने समझ लिया कि यवक्रीत कोई सामान्य नवयुवक नहीं है। उन्होंने उसे विद्या का वरदान देते हुए कहा—'नवयुवक तपस्वी! मैं तुम्हारी अविचल निष्ठा से परम प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें वरदान देता हूँ कि तुम और तुम्हारे पिता संसार भर में सुप्रसिद्ध पण्डित होंगे। अब तुम अपने पिता के आश्रम को वापस जाओ।'

यह वरदान देकर देवराज इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गए। यवक्रीत की साधना पूरी हुई। वह प्रसन्नता के अगाध पारावार में डूबने उतराने लगा। उत्कट विद्या के इस वरदान का उसने स्मरण किया। उसे ज्ञात हुआ कि जो शास्त्र प्रतिदिन के अध्ययन, परिशीलन और मनन के अनन्तर भी अधिगत नहीं होते थे, वे ही अनायास सब स्पष्ट होते जा रहे हैं। आन्तरिक आनन्द और उल्लास से वह भर गया। और अपने पिता भरद्वाज के आश्रम में पहुँच कर उसने अपनी सिद्धि की चर्चा उनसे भी की। महर्षि भरद्वाज को इन्द्र के वरदान की सूचना पहले ही मिल चुकी थी, किन्तु वे यवक्रीत के

स्वभाव और दुर्गुणों से परिचित थे। उन्हें भय था कि कहीं उसकी यह उत्कट विद्या उसके विनाश का कारण न बन जाय। उन्होंने यवक्रीत को समझाते हुए कहा—

'वत्स! तुम्हें उत्कट विद्या का वरदान मिल गया, यह मेरे लिए परम प्रसन्नता की बात है। किन्तु मुझे भय है कि तुम उस उच्च विद्या की रक्षा कैसे करोगे, क्योंकि जिसके पास धैर्य, सन्तोष, विनय-शीलता, गंभीरता और सच्चरित्र नहीं है, उसकी विद्या उसके विनाश का कारण बन जाती है। ऐसा व्यक्ति दुरभिमानी, परपोड़क तथा असन्तोषी होता है, स्वयं तो कष्ट उठाता ही है दूसरों को भी अत्यन्त पीड़ा पहुँचाता है। ब्राह्मण के लिए उसका दुरभिमान ही सब से बड़ा शत्रु है। तुम्हें अब अपने स्वभाव को भी वश में करना है। इस उच्च विद्या का सुफल तुम्हें तभी मिल सकता है, वत्स!'

यवक्रीत को पिता की ये उपदेश-भरी बातें अप्रिय लगीं। उसने मन में सोचा कि संभवतः पिता जी भी मेरी इस उच्च विद्या के कारण ईर्ष्या कर रहे हैं। वह बोला—'पूज्य तात! आप मेरी चिन्ता न करें। मैं अपनी इस उत्कट विद्या का प्रचार और प्रसार बड़ी सावधानी से करूँगा। और आप को दिखा दूँगा कि अर्वावसु और परावसु की विद्या तथा प्रतिभा में और मेरी विद्या तथा प्रतिभा में क्या अन्तर है।'

महर्षि भरद्वाज चुप हो गये। यवक्रीत को अपनी विद्या का अमिट प्रभाव देखने की शीघ्रता थी। सर्वप्रथम वह महर्षि रैभ्य और उनके दोनों पुत्रों को ही अपमानित करना चाहता था, क्योंकि चिरकाल की जलन को शान्त करने का कोई अन्य उपाय नहीं था। ऐसा निश्चय कर अपने आश्रम से वह अपने पितृव्य रैभ्य के आश्रम की ओर तुरन्त चल पड़ा।

× × ×

महर्षि रैभ्य के आश्रम में पहुँचकर यवक्रीत ने अर्वावसु और

परावसु को पराजित करने के लिए शास्त्रार्थ की चुनौती दी। विद्या के प्रचण्ड मद में वह इतना चूर था कि महर्षि रैभ्य की मध्यस्थता भी व्यर्थ हो गई। व्यर्थ के वितण्डा में डालकर उसने अर्वावसु और परावसु को परास्त कर दिया। विनय और सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति अर्वावसु और परावसु ने यवक्रीत की उत्कृष्ट विद्या का लोहा मान लिया और उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा भी की, किन्तु यवक्रीत को तब तक शान्ति नहीं थी, जब तक रैभ्य अपने मुख से उसकी प्रशंसा न करें। प्रचण्ड दुरभिमान और अविनय से वह उन्मत्त हो रहा था। भरी सभा में उसने रैभ्य को शास्त्रार्थ करने का आह्वान किया और यह भी चुनौती दी कि—'यदि शास्त्रार्थ में मैं जीत जाऊँगा तो महर्षि रैभ्य को जीवन भर मेरी दासता स्वीकार करनी पड़ेगी और यदि मैं पराजित हो जाऊँगा तो जीवन भर उनकी दासता करूँगा।'

महर्षि रैभ्य यवक्रीत के पितृव्य थे। अपनी परिणत वय विद्या और प्रतिष्ठा में वह अनुपम थे। उनके साथ शास्त्रार्थ करने की इस अपमान भरी शर्त को सुनकर सभा अत्यन्त क्षुब्ध हो उठी। किन्तु महर्षि रैभ्य के संकेत से सभी चुप बने रहे। दूसरे दिन मध्याह्न के समय शास्त्रार्थ का निश्चय किया गया। किन्तु दुरभिमान से उन्मत्त यवक्रीत का शान्तिपूर्वक एक दिन भी रुकना बड़ा कठिन था। उसने रैभ्य को अनेक प्रकार से अपमानित और लांछित करने का निश्चय किया। उसकी ईर्ष्या तथा द्वेष से भरी अपमानपूर्ण बातें रैभ्य के आश्रम को विषाक्त करने लगीं।

अन्ततः सन्ध्या समय जब महर्षि रैभ्य अग्निहोत्र की कोई क्रिया सम्पन्न कर रहे थे, तब यवक्रीत उन्हें अपमानित करने की दुर्भावना से उनके समीप पहुँच गया। और बिना प्रसंग के ही उनकी यज्ञ क्रिया में बाधा डालने लगा। उन्हें अनेक दुर्वचन कहे और हृदय को बेधने वाली कटूक्तियों से रैभ्य को विचलित कर दिया।

शान्त पुरुष का क्रोध सोते हुए ज्वालामुखी के समान होता है।

दुर्भाग्य से जब कभी वह क्षुब्ध होकर जाग उठता है, तो उसका सामना करना कठिन हो जाता है। महर्षि रैभ्य को यवक्रीत की अपमान जनक करतूतों ने इतना विक्षुब्ध कर दिया कि वे क्रोध से काँपने लगे। उनकी सदा प्रसन्न आँखों में रक्त की बूँदें छलक आईं। होंठ काँपने लगे और दाँतों की पंक्तियाँ अपने आप ही एक दूसरे पर जम गईं। दोनों नथुने फूल गए और क्षुब्ध वाणी कण्ठ में आकर सूख गई। उन्होंने अपनी जटा खींची और उसमें से एक बाल निकाल कर यज्ञकुण्ड में डाल दिया। अग्नि में पड़ते ही उस बाल की दुर्गन्धि के साथ ही एक भयंकर आकृति वाला राक्षस दहाड़ते हुए यज्ञकुण्ड से बाहर निकला। उसके विकराल हाथों में एक चमकता हुआ तीक्ष्णधार त्रिशूल था।

राक्षस को अपनी ओर सवेग दौड़ते देख यवक्रीत के होश उड़ गए। वह प्राण लेकर यज्ञशाला से बाहर भागा। वृक्षों और लताओं की झुरमुटों में से निकल कर पहले उसने एक सरोवर की जलराशि में घुस कर प्राण बचाने का उपाय सोचा। योगाभ्यास के कारण उसे विश्वास था कि वह बड़ी देर तक जल में डूबा रह सकता है। किन्तु दुर्भाग्य की शृङ्खला इतनी शीघ्रता से नहीं टूटा करती। जिस अगाध सरोवर में अभी प्रातःकाल उसने स्नान किया था, वह इस समय जल से रहित निकला। वहाँ से निराश होकर वह विपरीत दिशा में दौड़ने लगा, किन्तु कहीं भी प्राण बचाने की स्थिति उसे नहीं मिली। मध्य मार्ग में पड़ने वाली एक नदी में भी कूदकर उसने अपनी प्राण रक्षा का उपाय निकाला, किन्तु महर्षि रैभ्य की अकृपा के कारण उस नदी का जल भी सूख चुका था। वह दुर्दान्त राक्षस यवक्रीत के पीछे उसी द्रुतगति से भागा चला आ रहा था।

अन्त में निरुपाय यवक्रीत ने अपने पिता के आश्रम का मार्ग ग्रहण किया। उसे आशा थी कि पिता के पुण्याश्रम में पहुँच जाने पर इस विभीषिका से उसको मुक्ति मिल जायगी, किन्तु दुर्भाग्य यहाँ

भी उसका साथ नहीं छोड़ रहा था। महर्षि भरद्वाज किसी कार्य से आश्रम से बाहर थे और वहाँ एक भी ऐसा प्राणी नहीं दिखाई पड़ा जो यवक्रीत की प्राण-रक्षा कर सके। निरुपाय और निराश यवक्रीत ने पिता की यज्ञशाला में प्रवेश किया। उसे आशा थी कि राक्षस यज्ञ-शाला में प्रवेश नहीं कर सकेगा। किन्तु यज्ञ-शाला में प्रवेश के पूर्व ही उस राक्षस ने अपने तीक्ष्ण त्रिशूल से यवक्रीत को दो खण्डों में काट गिराया। बलिपशु के समान छटपटाता हुआ यवक्रीत का निष्प्राण शरीर जमीन पर लुढ़क पड़ा। पिता के जिस पुण्य आश्रम में उसने जन्म ग्रहण किया था, स्नेह के साथ पालन-पोषण पाया था, उसी में इस नृंशस प्रहार के द्वारा उसके प्राण भी छूट गए।

× × ×

महर्षि भरद्वाज को जब अपने एकलौते पुत्र की इस करुणाजनक मृत्यु का संवाद मिला तो वे शोक से विह्वल हो गए। उनका धैर्य जाता रहा। धरती पर गिर पड़े और मुर्च्छित हो गए। शिष्यों के उपचार से जब उनकी मूर्च्छा भंग हुई तो वे उन्मत्तों के समान प्रलाप करने लगे। एकलौते पुत्र की इस करुण मृत्यु को वह किसी प्रकार से भी सहन नहीं कर सकते थे। कई दिनों तक आहार, निद्रा और विश्राम की भी उन्हें चिन्ता नहीं हुई। आश्रम के कोने-कोने में बिलखते हुए वह यवक्रीत को ढूंढने का विफल प्रयास करते रहे। शोक की गम्भीरता इतनी अधिक थी कि उन्होंने अपने जीवन को ही निष्फल समझ लिया और अपने प्राणों को त्यागने का संकल्प किया।

शिष्यों तथा संवेदना प्रकट करने वालों की भीड़ में विह्वल महर्षि भरद्वाज को पहचानना भी सरल नहीं रह गया था। निरन्तर कई दिनों के जागरण, अनाहार और विह्वलता से उनका शरीर सूख कर काँटा हो गया था। अस्थिरता इतनी अधिक थी कि रह-रहकर प्रलाप करने लगते थे। अन्त में जब किसी भी प्रकार से उन्हें कल नहीं मिली तो गंगा के पावन तट पर पहुँचकर उन्होंने शरीर त्यागने का उपक्रम किया। किन्तु विधि को वह स्वीकार :नहीं था। वह गंगा

के प्रवाह में प्रविष्ट होने को ही थे कि अकस्मात् उन्हें स्मरण हुआ कि इस भयंकर विपत्ति के जनक रैभ्य को अछूता छोड़कर मेरा शरीर त्याग करना व्यर्थ होगा। उसी पापात्मा ने मेरे एकलौते पुत्र की हत्या करा दी है। और यदि उसी शोक में मैं भी शरीर-त्याग करता हूँ तो मेरा उभय लोक नष्ट हो जायगा। शरीर को नष्ट करने वाला आत्महन्ता है। ऐसे प्राणी को सुगति कभी नहीं मिलती। मुझे इस भंयकर पाप कर्म से विरत होना चाहिए। यह चिन्ता करते ही भरद्वाज कुछ प्रकृतिस्थ हो गए और गंगा के जल को अपने हाथों में लेकर उन्होंने रैभ्य को शाप दिया—'जिस प्रकार पुत्र-शोक से विह्वल हो कर मैं अपने प्राण त्यागने को प्रस्तुत हुआ हूँ, उसी प्रकार बिना किसी अपराध के ही रैभ्य की मृत्यु भी उसके ज्येष्ठ पुत्र के हाथों होगी।'

शाप दे देने के अनन्तर गंगा की पावन जल राशि में जब भरद्वाज ने अपने शापित जलका उत्सर्जन किया तो गंगा की लहरों में ज्वार के समान तूफान आ गया। दिशाएँ काँप उठीं, चारों ओर भयंकर ध्वनि गूंजने लगी। भरद्वाज ने अपनी तपस्या के इस अखण्डनीय प्रभाव को जब देखा तब उन्हें स्मरण आया कि हाय! मैंने अपनी जीवन-व्यापी तपस्या को इस पाप-कर्म के द्वारा विनष्ट कर दिया। अपने भाई के ही विनाश का शाप देकर मैंने अपना सर्वस्व नष्ट कर दिया है। निश्चय ही मुझसे बढ़कर पापी और दुखिया इस संसार में कोई दूसरा नही है, जिसका प्रिय पुत्र और भाई दोनों ही इस प्रकार नष्ट हो गए हों।'

किन्तु भरद्वाज कर ही क्या सकते थे। उस दुर्निवार शाप को अन्यथा करने की शक्ति उनमें भी नहीं थी। उधर महर्षि रैभ्य को अपने भाई भरद्वाज के शाप का जब पता लगा तो वे थोड़े आश्वस्त हुए। भंयकर क्रोध के उन्माद में अपने भ्रातृज यवक्रीत की मृत्यु की रचना कर वे भी अनुताप की अग्नि में कभी से दग्ध हो रहे थे। शाप की इस दुर्घटना के प्रति उनके हृदय में तनिक भी चिन्ता अथवा

खेद नहीं था। किन्तु उन्हें ग्लानि यही थी कि हम दोनों भाइयों के जीवन व्यापिनी तपस्या का इस प्रकार विध्वंस हो गया। हमारे लोक और परलोक दोनों नष्ट हो गए। इस दुर्घटना ने हमारे कुल का ह विनाश कर दिया।

अपने दोनों पुत्र अर्वावसु और परावसु को यह दुःसंवाद उन्होंने नहीं सुनाया और न अपनी मनोव्यथा ही किसी प्रकार प्रकट की धीरता के साथ भाई के शाप के घटित होने की वह प्रतीक्षा करने लगे और परमात्मा से अपने कुल के उद्धार की प्रार्थना करने लगे

महर्षि भरद्वाज की भी दशा ऐसी ही थी। भाई को शाप दे देने के अनन्तर वह प्रायोपवेशन व्रत द्वारा अपने पापी शरीर को त्यागने का दृढ़ संकल्प लेकर गंगा के तट पर बैठ गए। आश्रम औ शरीर की समस्त चिन्ताएं छोड़ दीं।

किन्तु भगवान को अपने अनन्य भक्त एवं परम तपस्वी भरद्वाज और रैभ्य के विध्वंस की यह लीला स्वीकार नहीं थी, उन्होंने दोनों को ही विनष्ट होने से बचा लिया। महर्षि रैभ्य के कनिष्ठ पुत्र अर्वावसु की अखण्ड साधना और तपस्या ने दोनों कुलों की रक्षा की देवताओं ने सुप्रसन्न होकर यवक्रीत और रैभ्य के प्राणों की रक्षा की महर्षि भरद्वाज अपने प्राण त्यागने के दुःसंकल्प से विरत होकर लोक कल्याण की चिन्ता में ऐसे रम गए कि उनका उत्तर जीवन हमा देश की चेतना एवं संस्कृति का दीप-स्तम्भ बन गया। अपन उज्जवल साधना, तपस्या और लोक चिन्ता से उन्होंने आर्य जाति की अपूर्व रक्षा की।

पुनर्जीवन के अन्तर यवक्रीत का दुरभिमान भाग गया और व सच्चे अर्थों में ऋषि बन गया। अपनी गंभीर विद्या एवं सत्प्रवृत्तिय से उसने अपने पिता की कीर्ति-कौमुदी का खूब विस्तार किया औ अपने उज्ज्वल कार्यों के द्वारा अपने कुल, जाति एवं समाज क महान कल्याण किया।

विश्वामित्र का जन्म

महर्षि वसिष्ठ के सौ पुत्रों का विनाश कराने वाले कान्यकुब्ज नरेश विश्वामित्र का जीवन आरम्भ में कितना राजसी, छलछिद्रपूर्ण, तथा अशान्त था, इसे बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु ऐसा होते हुए भी उन्होंने अपनी अखण्ड तपस्या और साधना के बल पर अपना उत्तर जीवन कितना उज्ज्वल और पुण्यमय बना लिया, यह तथ्य आज भी पुराणों की एक पहेली बना हुआ है। क्षत्रिया रानी के गर्भ से जन्म लेकर, राजोचित वैभव विलास से पूर्ण वातावरण में पल कर एवं प्रचण्ड क्रोध तथा ईर्ष्या से भरी हुई उद्दाम लालसाओं से युक्त होकर उन्होंने जीवन के आरम्भ में जो कठोर पाप कर्म किए थे संभवत: उन्हीं के कारण उनको विश्वामित्र (संसार का शत्रु) जैसे दुर्नाम से संबोधित किया गया था। यद्यपि उनमें उत्तम विद्या, प्रखर बुद्धि एवं चमत्कारिणी प्रतिभा का अजस्र स्रोत था, परोपकार, दया, तपस्या और साधना की उत्कट लालसा थी, अनेक वृहत् यज्ञों को निर्विघ्न सम्पन्न कर देवराज इन्द्र को विकम्पित बना देने की दुर्लभ क्षमता थी, तथापि नवयौवन के मध्यमार्ग पर महर्षि वसिष्ठ की अलौकिक सिद्धियों को देखकर जिस अकुण्ठित ईर्ष्या और द्वेष बुद्धि का उदय दुर्भाग्यवशात् उनमें हो गया था, वह बड़ी कठिनाइयों से निवारित किया गया।

महान् अपयश, घृणा और क्रूर पापकर्मों की दुर्गन्धियों से दूषित विश्वामित्र के जीवन की उत्तर दिशा किस प्रकार पुराण-प्रशस्त बनी, इसकी मनोरंजक कथाएँ पुराणों में दी गई हैं। यही नहीं पुराणकर्त्ताओं को उनकी जन्म कथा में भी कुछ अलौकिक घटनाओं की शृङ्खला जोड़नी पड़ी है और ऐसा लगता है कि संस्कृत के महान्

वैयाकरण पाणिनि को भी उनके उस अपयशस्वी नाम को विशुद्ध होने की मान्यता देने के लिए "मित्रे चर्षौ" जैसे एक स्वतंत्र सूत्र की कल्पना करनी पड़ी है। आधी मात्रा के लाघव को पुत्र जन्मोत्सव के समान आह्लादकारी मानने वाले वैयाकरणों के इस पितामह को छ मात्राओं वाले स्वतंत्र सूत्र की कल्पना में जो कष्ट हुआ होगा, उसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

दो परस्पर विरोधी दिशाओं को स्पर्श करनेवाले विश्वामित्र के जीवन की घटनाएँ परस्पर इतनी विसंगतियों से भरी हैं कि उनके समान विचित्र व्यक्तित्व वाले अन्य पौराणिक पात्र का परिचय सुगम नहीं रह गया है। सहस्रों वेदाध्यायी ब्राह्मणों की नृशंस हत्या करानेवाला क्षत्रियपुत्र ब्रह्मर्षि की त्रैलोक्य-दुर्लभ उपाधि से विभूषित किया जाय, इसके उदाहरण स्वयं विश्वामित्र ही हैं। उनके जन्म की यह विचित्र कथा पुराणकर्त्ताओं ने बड़ी निपुणता से ग्रथित की है।

कान्यकुब्ज के राजा गाधि परम दानी, सत्कर्म परायण तथा प्रजापालक शासक थे। अपने राज्य भर में उन्होंने अपने सद्‌गुणों की ऐसी मोहिनी छाप छोड़ी थी कि समस्त प्रजावर्ग उनके संकेतों पर प्राण निछावर करने को सर्वदा तैयार रहता था। गाधि जितने उदार तथा न्याय परायण थे उतने ही विचारवान तथा गंभीर भी। उनका शासन समूची धरती के अन्य सामयिक शासकों के लिए एक उज्ज्वल आदर्श था। किन्तु इन सब सुखों के साथ भी गाधि का लौकिक जीवन उतना सुखी और सन्तुष्ट नहीं था। एक पुत्र के न होने के कारण उनका राजभवन सूना दिखाई पड़ता था। त्रैलोक्य दुर्लभ समृद्धियों से सम्पन्न उनके राजपद को सम्हालनेवाला कोई उत्तराधिकारी नहीं था। इसकी चिन्ता में गाधि सदैव व्याकुल रहा करते थे। किन्तु गाधि की यह पुत्र-चिन्ता केवल उन्हीं की नहीं थी उनके राज्य भर

की चिन्ता थी। राजा के साथ उनका शुभैषी प्रजावर्ग भी उनकी पुत्र प्राप्ति के लिए वैदिक सदनुष्ठानों में सदा तत्पर रहता था।

अनेक वर्ष बीत गए। इस बीच ऋषियों मुनियों की बताई गई दान-पुण्य और वैदिक यज्ञ-यागादि की विहित परंपराओं की अनेक आवृत्तियाँ भी संपन्न हो चुकीं किन्तु कान्यकुब्जेश्वर गाधि के राज-भवन में पुत्र जन्मोत्सव की दुन्दुभी नहीं बजी। प्रजावर्ग की अभि-लाषाएँ धूमिल हो गयीं और गाधि दंपति भी निराश होकर विधि की इस विडंबना के संमुख नतशिर होकर बैठ गए। किन्तु निजी जीवन में निराशा के इस घनान्धकार से आवृत होने पर भी सामाजिक व्यवहारों में गाधि के स्वभावज सद्गुणों की शृङ्खला कभी टूटी नहीं, और न उन्होंने अपने प्रजावर्ग में ही धर्म कर्म के प्रति उपेक्षा का कभी उदय होने दिया। उनके राजभवन में सभी सत्क्रियाएँ यथाविधि सम्पन्न होती रहीं और शासन की निर्धारित प्रणाली में कभी कोई व्यवधान नहीं उपस्थित हुआ। अतः विधाता को गाधि और उनके प्रजावर्ग की इस अखण्डित सत्कर्मनिष्ठा पर झुकना ही पड़ा और एक दिन वह भी आया जब मंगलमुहूर्त में कान्यकुब्जेश्वर का सूना-अन्तःपुर एक दिव्य ज्योतिष्मती बालिका के जन्मोत्सव से झंकृत हो उठा।

कान्यकुब्ज की प्रजा चिरकाल के अनन्तर अपनी साधना एवं अभिलाषा की इस कल्पलता को पाकर फूली न समाई। समूचे राज्य भर में महान् उत्सव मनाए गए और क्या धरती क्या आकाश-सर्वत्र उसकी मंगलकामना के मनोहर गीत गाए गए। पशु-पक्षी, द्रुम-लताएँ और गिरिगह्वर तथा नदियों की पावन जलराशि भी मुखरित हो उठी। महान् उल्लास और हर्ष के इस दुर्लभ अवसर को पाकर समूचा कान्यकुब्ज उन्मत्त-सा बन गया। रंकों ने भी अपना सर्वस्व लुटा दिया और कान्यकुब्जेश्वर का संचित कोश सत्पात्रों के घर चला गया। आनन्द और उल्लास का यह महान आयोजन

समूचे राज्य में अनेक महीनों तक अबाध रूप से चलता रहा और इन सबके बीच में शुक्लपक्ष की चन्द्रकला की भाँति वह कन्या गाधि के राजभवन के साथ ही समूचे राज्य को आह्लादित करने लगी।

गाधि की यह भाग्यवती कन्या सत्यवती नाम से प्रसिद्ध हुई। वह अलौकिक सुन्दरी ही नहीं थी, उसमें देवोपम सद्गुणों का निवास था। गाधि और उनकी प्रजा के अर्जित पुण्यों के समान ही वह परम तेजस्विनी थी, किन्तु अभिमान और दम्भ का उसमें लेश भी नहीं था। उसका बाल्य जीवन इतना आनन्द पूर्ण था कि कब वह इतनी सयानी हो गई, इसका पता तभी लगा जब एक दिन माता ने उसे अन्तःपुर से बाहर जाने पर रोक लगा दी और पिता के सम्मुख उसके विवाह का सुखद किन्तु चिन्ताकुल प्रस्ताव रखा गया।

सत्यवती कान्यकुब्जेश्वर की कन्या ही नहीं थी, समूची कान्य-कुब्ज प्रदेश की प्रजा उसके अजस्र मंगल की आकांक्षिणी थी। निदान वयस्क होने के साथ ही सत्यवती के विवाह की चर्चा घर घर होने लगी। शीघ्र ही दक्षदूतों द्वारा भूमण्डल भर के राजपुत्रों के कुल-शील, सद्गुण, स्वरूप, स्वास्थ्य और व्यक्तित्व की विपुल सूचनाएँ गाधि को मिल गई थीं और वे उनमें से ही किसी को भाग्यशाली बनाने की चिन्ता में भी थे कि एक दिन प्रचण्ड तपस्वी महर्षि और्व के पुत्र ऋचीक उनकी राजसभा में आ विराजे। और उन्होंने कुशल क्षेम की साधारण चर्चा के अनन्तर ही बिना किसी संकोच और झिझक के यह निवेदन कर दिया—

"कान्यकुब्जेर! मैंने अपना अध्ययन समाप्त कर लिया है और पूज्य पिताजी के आदेश से मैं गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना चाहता हूँ। मेरे शुभैषी मित्रों तथा गुरुजनों ने मुझे बताया है कि मैं विद्या, बुद्धि, प्रतिभा, रूप, शील एवं तपस्या—सब में आपकी पुत्री सत्यवती के सर्वथा अनुरूप हूँ। अतः मेरी याचना है कि आप सत्यवती के साथ मेरिा ववाह करा दें जिसमें मैं अपना ऐहिक और पारलौकिक जीवन

सुख तथा शान्ति के साथ व्यतीत कर सकूँ। राजन्! मैं समझता हूँ कि आप मेरी यह याचना पूर्ण कर परम निःश्रेयस के भागी बनेंगे।'

कान्यकुब्जेश्वर की राजसभा ऋचीक की इस अविनीत याचना से अवसन्न हो गई। चित्रलिखे की भाँति क्षण भर तक सभी लोग चुप रह गए। महर्षि और्व के तप तेज तथा अनुपम प्रभाव से सभी लोग इतने आतंकित थे कि किसी में ऋचीक को खर्वित करने का साहस भी नहीं हुआ। मंत्रिपरिषद् के सदस्य महाराज गाधि की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए अधीर प्रतीक्षा करने लगे तथा सामान्य पारिषद् एवं राजपुरुषों की अन्तश्चेतना में भय समा गया। महाराज गाधि विवेक और धीरता की अविचल मूर्ति थे। कुछ क्षण तक चुप रहकर उन्होंने राजसभा पर एक बार दृष्टिपात किया और फिर आकाश की ओर देखते हुए घोर निराशा और विवशता के प्रबलवेग में जँभाई लेते हुए ऋचीक से सविनय निवेदन किया:—

'ऋषिकुमार ऋचीक! सर्वविद्या एवं सद्गुणों के निधान आप जैसे स्वरूपवान्, तेजस्वी तथा अनुपम व्यक्तित्व सम्पन्न नवयुवक को अपनी पुत्री सत्यवती को समर्पित करना मेरे लिए परम सौभाग्य का विषय है किन्तु आप जानते हैं कि सन्तान पर माता और पिता का समानाधिकार है। किसी सत्पात्र के हाथों में सत्यवती को समर्पित करने के पूर्व मुझे उसकी माता की सम्मति लेना अनिवार्य है। मैं आज ही आप के इस प्रस्ताव पर उनसे भी सहमति लेने का यत्न करूँगा। मेरा निवेदन है कि आज आप हमारे अतिथि भवन को अपनी सेवा के कल्याणदायी अवसर प्रदान कर हमें अनुगृहीत करें। कल प्रातःकाल मैं आप को इस सम्बन्ध में कोई निश्चित उत्तर देने की स्थिति में रहूँगा।'

ऋचीक के निर्मल एवं सुप्रसन्न मुखमण्डल पर हास्य की मोहक छटा छितरा गई। राजनीति के प्रपंचों से अनाविल उनके निश्छल मानस में गाधि की इस मार्मिक वाणी ने अपना उचित प्रभाव

डाला। अपनी सहर्ष स्वीकृति प्रदान करते हुए वह सविनय बोल पड़े—

'महाराज ! आपकी सदसद्विवेकिनी बुद्धि से विनिश्चत कोई भी विषय किसी को भला अमान्य क्यों होगा ? मैं आपकी अतिथि-शाला का मार्ग जानना चाहता हूँ। कल प्रातःकाल आपके निर्णय के अनन्तर ही मैं अपने अगले कार्यक्रम को निश्चित करूँगा। आपका कल्याण हो। आपकी प्रजा में सुभिक्ष, सद्विवेक और शान्ति का प्रसार हो। मैं चल रहा हूँ।'

ऋचीक की संक्षिप्त वक्तृता के साथ ही कान्यकुब्जेश्वर की राज-सभा उस दिन समाप्त हो गई। स्वयं महाराज गाधि, पारिषदों तथा मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के हृदय और मस्तिष्क पर असह्य वेदना का बोझ डालकर ऋचीक निश्चिन्त हो चुके थे। उन्हें महाराज के पुरोहित वर्ग ने ससम्मान ले जाकर अतिथिभवन में संत्कृत किया और इधर राजसभा की समाप्ति के साथ ही यह चर्चा रात्रि भर में समूचे कान्य कुञ्ज प्रदेश में विद्युत् गति के समान फैल गई।

कहाँ एक सर्व गुणोपेत, अलौकिक सुन्दरी राजकन्या सत्यवती और कहाँ एक निर्धन, विवेकहीन खूसर ब्राह्मणपुत्र, जिसे भरी राज सभा में स्वयं महाराज से इस प्रकार की निर्लज्ज चेष्टा प्रकट करते हुए भी तनिक झिझक नहीं हुई। यह अनमेल,अनुचित और अन्याय पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना समूची कान्यकुञ्ज की प्रजा के साथ भी अन्याय था। सत्यवती पर समूचे राज्य की प्रजा का भी अधिकार था। अपनी राजोचित मर्यादा में बद्ध एवं विवश होकर राजा गाधि कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकते जिस पर समूची प्रजा वर्ग की भावना पर आघात होता हो। प्रजा के प्रतिनिधियों ने रात होते ही अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया, क्योंकि वे जानते थे कि ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर गाधि के निर्णय की तुला सदैव ब्राह्मणों के पक्ष में ही झुक जाती है।

निदान दूसरे दिन प्रातःकाल होने के पूर्व ही कान्य कुब्जेश्वर की राजधानी में विद्यमान प्रजावर्ग के प्रतिनिधियों ने मंत्रिपरिषद् से परामर्श लेकर राजा गाधि से मिलने का निश्चय किया। उन्हें जल्दी इसलिए भी थी कि कहीं महाराज प्रातःकाल अपने उस सम्माननीय अतिथि के प्रति सत्कार प्रकट करने के लिए स्वयं अतिथिभवन में न चले जायँ और वहीं पर अपना निश्चय भी न सुना दें। शैय्या त्यागने के पूर्व ही प्रजावर्ग के प्रतिनिधियों ने महाराज गाधि को अपनी उपस्थिति की सूचना भिजवा दी। किन्तु उधर कान्य-कुब्जेश्वर के विशाल अन्तःपुर की रजनी भी कल सन्ध्या से ही दुःखावेगों से भरी थी। महारानी अपनी सखियों तथा अनुचरियों के संग रात्रि भर रोती रहीं और स्वयं सत्यवती भी अपनी शुभैषिणी सखियों तथा अनुचरियों के करुण क्रन्दन के कारण सो नहीं सकी थी। यद्यपि उसे अपने अदृष्ट पर अगाध विश्वास था और वह अपने भाग्य देवता का हृदय से वरण कर चुकी थी तथापि राजभवन के वातावरण को अपने प्रतिकूल देखकर न वह किसी को कुछ आश्वासन देती थी और न स्वयं ही कोई दुःख प्रकट करती थी। रात्रि में निद्रा उसे भी नहीं आ सकी। महाराज गाधि भी चिन्ता की अधिकता से मुरझा गए थे। शयनागार के गवाक्ष पर प्रातःकाल की शीतल, मन्द सुगन्धित वायु में अपने दैनिक कर्त्तव्य की प्रेरणा लेने के हेतु जब उन्होंने अपनी भारी आंखें डालीं तो उन्हें दूर से ही अपरिचित तथा अस्वाभाविक जन सम्मर्द का घोष स्वतः सुनाई पड़ गया। उनसे यह अप्रकट नहीं रह सका कि प्रजा के प्रतिनिधि वर्ग अत्यन्त असन्तोष तथा दुःख के साथ अपनी कुण्ठा प्रकट कर रहे हैं।

महाराज को यह गूढ सन्दर्भ समझने में विलंब नहीं हुआ। वे तत्क्षण शैय्या से उठ खड़े हुए और यथाशीघ्र नित्यकर्मों से निवृत्ति पाकर प्रजावर्ग के प्रतिनिधियों का जाकर स्वागत किया। उनके समीप पहुँचते ही महाराज ने मुस्कराते हुए कहा—

'कान्यकुब्ज के प्रतिनिधि वृन्द ! इस अस्वाभाविक प्रभात-बेला में अन्तःपुर के प्रवेश द्वार पर आप लोगों की आकुल उपस्थिति का कारण मुझे ज्ञात है। मैं ऐसा कोई भी कार्य नहीं करूंगा जिसके कारण आप सब को असन्तोष हो। पुत्री सत्यवती के विवाह की जटिल समस्या ने समूचे अन्तःपुर को भी मथ डाला है। मेरे जीवन में ऐसी कठिन परिस्थिति कभी नहीं आई थी। किन्तु मैं आप लोगों को विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि ऐसा कोई भी कार्य नहीं होगा, जिसके भय से आप सब व्याकुल हैं।'

प्रजावर्ग के प्रतिनिधि महाराज गाधि की आश्वासन भरी वाणी सुनकर प्रसन्न हो उठे। सत्यवती के प्रति उनकी गहरी चिन्ता का समाधान हो गया। महाराज ने एकान्त में उनसे बताया कि सत्यवती के विवाह के लिए महारानी ने जो शर्त लगाई है, उसकी पूर्ति होने पर ही ऋषिकुमार ऋचीक के साथ उसका विवाह हो सकेगा। और वह शर्त ऐसी है कि उसकी पूर्ति ऋचीक तो क्या धरती के किसी भी महापुरुष द्वारा संभव नहीं है। प्रजावर्ग के प्रतिनिधि महाराज गाधि की इस सामयिक सूझ-बूझ से सन्तुष्ट होकर वापस चले गए।

अपराह्न में निर्दिष्ट समम पर भरी राजसभा में महाराज गाधि ने सत्ववती के विवाह के सम्बन्ध में ऋषि कुमार ऋचीक से इस प्रकार निवेदन किया :—

'ऋषि कुमार ! वेद-वेत्ताओं में निष्णात एवं रूप, कुल, शील, प्रतिभा तथा सदाचार से सम्पन्न आप जैसे वर को प्राप्त करना पुत्री सत्यवती के लिए ही नहीं हमारे एवं हमारे प्रजावर्ग के लिए भी महान् मंगलदायी है किन्तु विवशता इस बात की है कि हम लोगों ने सत्यवती के विवाह के लिए जो शर्त निश्चित की है वह अत्यन्त दुःसाध्य है। बिना उसकी पूर्ति किए हुए आपके संग सत्यवती का विवाह संभव नहीं है।'

ऋचीक को राजा की इस मर्म भरी वाणी से तनिक भी कुतूहल

नहीं हुआ। वह अपनी सहज प्रसन्न मंद मुस्कान से समूची राजसभा को विस्मित करते हुए बोला—

'महाराज! मैं सत्यवती के लिए उस दुःसाध्य शर्त की पूर्ति करने का यथासाध्य प्रयत्न करूँगा। आप कृपाकर उसे बताने का कष्ट करें।'

महाराज गाधि यद्यपि सद्विवेक और गंभीरता की मूर्ति थे एवं ऋषियों-मुनियों के प्रति उनके हृदय में अगाध निष्ठा थी तथापि भरी राजसभा में एक युवक ऋषिकुमार की इस प्रगल्भ वाणी ने उन्हें विचलित किए बिना नहीं छोड़ा। थोड़ी देर तक तो वे चुप बने रहे और फिर अपना दाहिना हाथ ऋचीक की ओर उठाकर तनिक रूक्षता से बोले—

'युवक ऋषिपुत्र! नवयौवन की सीढ़ी पर इस प्रकार के अविवेकपूर्ण कदम रखने के पूर्व मैं आपको पुनः सावधान कर देना चाहता हूँ कि सत्यवती के संग विवाह करने के लिए जो शर्त हम लोगों ने निश्चित की है वह उसी के समान त्रैलोक्यदुर्लभ है। मेरा अनुमान है कि इस धरती पर उसकी पूर्ति करनेवाला कोई नहीं जन्मा है। क्या आप इस प्रकार की शर्त पूरी करने का दुष्प्रयास करके अपनी अनुपम विद्या, बुद्धि, प्रतिभा एवं वंशपरम्परागत प्रतिष्ठा को खंडित करना उचित समझते हैं। मेरी प्रार्थना है कि आप इस आकाश-कुसुम को तोड़ने का दुःसंकल्प छोड़ दें।'

ऋषिकुमार ऋचीक महाराज गाधि की इस गंभीर वाणी से तनिक भी प्रतिहत नहीं हुआ। उस भरी राजसभा को तृणगुल्मों की भाँति निहारते हुए वह अपनी धीर गंभीर किन्तु मृदु मुस्कान से भरी वाणी से सबको विस्मित करते हुए पुनः बोला—

'महाराज! मेरा अविनय क्षमा हो। आपकी त्रैलोक्य दुर्लभ शर्त की चर्चा ने मुझे विस्मय में डाल दिया है। मैं समझता था कि जिस निपुण विधाता ने त्रैलोक्यसुन्दरी राजकुमारी सत्यवती की

रचना करके सृष्टि सौन्दर्य की सीमा के सम्बन्ध में एक महनीय मर्यादा स्थिर की है उसने उसके योग्य वर की भी रचना अवश्य की होगी। किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि आपको विधाता की रचना चातुरी के प्रति भी सन्देह हो गया है, जो ऐसी बातें कहकर अपने महान पद की प्रतिष्ठा को क्षुण्ण कर रहे हैं। क्या आपका ख्याल है कि राजकन्या सत्यवती सदैव कुमारी ही रहेगी।'

महाराज गाधि लज्जा से पीले पड़ गए। समूची राजसभा अपमान से गड़ गई। थोड़ी देर तक भयंकर नीरवता छाई रही। किन्तु गाधि को कोई न कोई उत्तर तो देना ही था। बड़े साहस और विवेक का सहारा लेकर वे सहमे हुए से बोले—

'ऋषिकुमार! आपकी वाणी में हमें अपमानित करने की जो भावना है, उसके लिए हमारे मनमें क्षोभ नहीं है। किन्तु मैं विवश हूँ। सत्यवती चाहे जीवन भर कुमारी ही क्यों न रहे किन्तु मैंने जान में या अनजान में उसके विवाह के लिए जो प्रतिज्ञा कर ली है, उसकी पूर्ति किए बिना तो अब उसका विवाह होना सर्वथा असंभव है। आप यदि उस प्रतिज्ञा को पूर्ण कर देते हैं तो मैं समझूंगा कि विधाता ने सत्यवती के समान ही त्रैलोक्य दुर्लभ उपादानों से आपकी रचना करके इस त्रिलोकी में एक आदर्श दम्पती को उत्पन्न किया है। अन्यथा जीवन भर दुःखभरे कौमार्य को बिताने के अतिरिक्त सत्यवती के लिए और हम सब के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है।'

ऋचीक ने सहज भाव से सविनय पूछा—'महाराज! मैं आपकी उस त्रैलोक्य दुर्लभ प्रतिज्ञा को सुनने के लिए उत्सुक हूँ।'

महाराज गाधि कुछ रुष्ट स्वर में बोले—'ऋषिकुमार! सत्यवती उसी को मिलेगी, जो दुग्ध के समान श्वेत अंगों वाले ऐसे निर्दोष एक सहस्र अश्वों को लाएगा, जिनके केवल कानों के भीतर का रंग लाल होगा और बाहर का रंग काला होगा। यदि आप यह पण ला सकेंगे तो अपनी समूची प्रजा के साथ मैं आप जैसे सर्वथा सुयोग्य

पात्र के हाथों में सत्यवती को सौंपकर परम सुख एवं शान्ति का अनुभव करूँगा।'

महाराज गाधि की इस प्रतिज्ञा को सुनकर समूची राज सभा में सन्नाटा छा गया। सबने मान लिया कि सचमुच सुदंरी सत्यवती का विवाह विधना ने नहीं लिखा है, क्योंकि इस प्रकार के एक-दो सौ घोड़े ही धरती पर विद्यमान थे। स्वयं गाधि भी अपनी प्रतिज्ञा की भयंकरता से अवसन्न हो गए थे। उन्हें भी भीतर से यह भय होने लगा कि आज उत्तेजना में आकर मैंने जो भीषण प्रतिज्ञा कर ली है उसकी पूर्ति करना कितना असंभव है। किन्तु करते ही क्या? अपनी मर्यादा रक्षा एवं सत्यवती जैसी त्रैलोक्य दुर्लभ कन्या के विवाह के लिए इस प्रकार की असंभव प्रतिज्ञा यदि न करते तो क्या करते!

किन्तु क्षण भर में ही अपनी सहज प्रसन्न मंद मुस्कान से भरी राज सभा को स्तम्भित करते हुए ऋषिकुमार ऋचीक ने जिस अदम्य साहस तथा निर्भीकता का परिचय दिया वह ऐसा था कि सब को क्षण भर में ही यह विश्वास होने लगा कि विधाता ने त्रैलोक्य सुन्दरी सत्यवती के लिए ही इस परम तेजस्वी ऋषिपुत्र का आविर्भाव किया है।

ऋषि पुत्र ऋचीक सहज भाव से यह कह कर कि—'राजन्! मैं आपकी शर्तें पूरी करके यथाशीघ्र ही आप की राजधानी में वापस आऊंगा' सहज भाव से राज सभा से बाहर की ओर चल पड़ा और महाराज गाधि तथा उनके पारिषद एवं मंत्रिवर्ग आश्चर्य समुद्र में डूबने-उतराने लगे।

उधर ऋचीक गाधि की राजधानी से चलकर एक सहस्र श्यामकर्ण अश्वों की प्राप्ति के लिए चिन्तित हो गया। किन्तु ऐसे अश्वों का इस धरती-तल पर मिलना असम्भव था, क्योंकि वरुण को छोड़कर किसी देवता के पास भी ऐसे अश्व नहीं थे। देवराज इन्द्र के पास भी ऐसे अश्वों की संख्या उतनी नहीं थी। निदान ऋचीक

जल के अधिदेवता वरुण की आराधना में तन-मन से जुट गया और शीघ्र ही उन्हें सुप्रसन्न कर महाराज गाधि द्वारा डाले गए धर्म संकट से मुक्त करने के लिए एक सहस्र श्यामकर्ण अश्वों को प्रदान करने का वरदान मांगा।

पहले तो वरुण कुछ सकपकाए, क्योंकि ऐसे त्रैलोक्य दुर्लभ अश्वों को रखने के कारण ही उनकी महिमा थी, किन्तु ऋचीक जैसे साधक को अप्रसन्न करने की भी उनकी इच्छा नहीं थी। विवश होकर उन्हें यह वरदान देना ही पड़ा। उन्होंने ऋचीक से कहाः—

'ऋषिकुमार ! आप की प्रसन्नता के लिए मैं यह त्रैलोक्यदुर्लभ वरदान दे रहा हूँ। आप निश्चिन्त होकर कान्यकुब्जेश्वर की राजधानी को वापस जाइए। वहाँ पहुँच कर आप ज्यों ही उन अश्वों का स्मरण करेंगे, वे आपके समीप सभी साज-सज्जाओं से समलंकृत होकर पहुँच जायेंगे।'

ऋचीक के आनन्द की सीमा नहीं रही। सत्यवती जैसी सुन्दरी तथा अनुपम गुणवती पत्नी प्राप्त करने का ही सुखद संयोग ही नहीं था, राजा गाधि एवं उनके पारिषदों तथा मंत्रियों को अपने तपोबल की महिमा से सुपरिचित कराने का भी यह अवसर था। अपने मनोरथ के परम द्रुतगामी वेग पर आरूढ़ होकर वे वरुण की कृपा से शीघ्र ही कान्यकुब्जेश्वर की राजधानी के समीप गंगा तट पर पहुँच गए। उस समय मध्याह्न का सूर्य आकाश मण्डल को प्रभावान बना रहा था। ऋचीक ने पुण्य सलिला गंगा में स्नान एवं सन्ध्या बन्दन कर सुविस्तृत बालुकामय तट प्रान्त पर आकर राजा गाधि द्वारा बताए गए उन एक सहस्र श्यामकर्ण अश्वों का हृदय में अनुध्यान किया। उनके ध्यानावस्थित होते ही गंगा का समूचा तट प्रान्त वरुण देव के उन दिव्य गुणोपेत एक सहस्र श्याम कर्ण अश्वों की पदचाप, तथा हिनहिनाहट से आकीर्ण हो गया।

वे एक सहस्र अश्व अपनी अलौकिक आभा के समान ही बहु-

मूल्य रत्नों, सुवर्ण अलंकरणों तथा वस्त्रों आदि से सुसज्जित थे। उनकी जगमगाहट से मानो भास्कर की किरणें भी लज्जित हो रही थीं। वे ऐसे उछल कूद रहे थे मानों ऋषिकुमार ऋचीक के मनोरथ को सद्यः सफल बनाने के लिए व्याकुल थे। उन्हें देखते ही ऋचीक के हर्ष का ठिकाना न रहा। वे तुरन्त अश्वों के साथ महाराज गाधि के भवन की ओर चल पड़े। समूचे कान्यकुब्ज प्रदेश में ऋचीक की इस महती सफलता तथा राजा एवं प्रजा वर्ग की इस दयनीय विफलता की चर्चा विद्युत् वेग से फैल गई। स्वयं महाराज गाधि ने अपने मंत्रियों तथा पारिषदों के संग आकर ऋचीक की अगवानी की और उनसे अपने अपराधों के लिए क्षमा-प्रार्थना की।

उसी दिन मंगलवेला में सत्यवती के संग ऋषिकुमार ऋचीक का शुभ विवाह-सम्पन्न हो गया। विधाता की इस अपरिहार्य इच्छा के सम्मुख सब को नत शिर होना ही पड़ा। सत्यवती अपने माता, पिता तथा प्रजावर्ग की इच्छाओं को जानती थी, किन्तु वह मन ही मन ऋचीक को प्रथम दर्शन के दिन से ही अपना आराध्य बना चुकी थी। विवाह हो जाने के बाद उसने ऋचीक से अपने आश्रम चलने का आग्रह किया, क्योंकि उसे अब राजोचित वैभव-विलास पूर्ण जीवन से विरक्ति हो गई थी। किन्तु उसके माता तथा पिता के दुराग्रह के कारण ऋचीक ने कुछ दिनों तक कान्यकुब्ज में और ठहरने की स्वीकृति दे दी थी।

राजधानी के स्वल्प प्रवास में ही ऋषिकुमार ऋचीक की महानुभाविता प्रकट हो गई। उसकी अगाध साधना, विद्या, ज्ञानगरिमा, तथा तपोनिष्ठा का चमत्कार तो सब देख ही चुके थे किन्तु इन थोड़े दिनों में सब ने अनुभव किया कि जब से ऋचीक का निवास उनकी राजधानी में हुआ है तब से राजधानी का वातावरण सब प्रकार से सुखदायी, उल्लासपूर्ण तथा दुःख-द्वन्द्व-विहीन हो गया है। सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश में अधिक शुभ्रता आ गई है और शीतल मन्द

सुगन्धिपूर्ण वायु की लहरों में नूतन प्राणद शक्ति का संचार हो गया है। प्रजावर्ग में पारस्परिक छल-छिद्र पूर्ण व्यवहारों का अभाव हो गया है और विश्ववन्धुत्व तथा जीवमात्र के कल्याण की भावना उदग्र हो गई है। इसका परिणाम यह हुआ कि विवाह के दो ही चार दिनों के अनन्तर महाराज गाधि तथा उनकी पत्नी ने हृदय से मान लिया कि निश्चय ही ऋचीक के द्वारा ही हमारा तथा कान्यकुब्ज का कल्याण हो सकता है।

एक दिन सत्यवती की माता ने एकान्त पाकर अपनी मनोव्यथा प्रकट करते हुए उससे कहा—'बेटी! शास्त्र कहते हैं कि इस संसार में पुत्रहीन को कोई गति नहीं मिलती। अब तक तो मैं तुम्हें देखकर सन्तोष किया करती थी, किन्तु अब तो तुम भी पराई हो चुकी हो, शीघ्र ही अपने पति के संग जब तुम भी चली जाओगी तो हमारे जीवन का संबल क्या होगा।'

सत्यवती अपनी माता के इस गूढ अभिप्राय को समझती थी। उसने उसी दिन अपने सर्व शक्तिमान पति को अपनी माता की मनोव्यथा कह सुनाई और शीघ्र ही एक पुत्र तथा एक भाई का वरदान पाने की याचना की। ऋचीक सत्यवती के आग्रह को टाल नहीं सकते थे। उन्होंने कुछ समय तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने की आज्ञा दी। सत्यवती और उसकी माता ऋचीक की आज्ञा को शिरोधार्य कर उस मंगल-मुहूर्त्त के शुभागमन की सुखद-उत्सुक प्रतीक्षा करने लगे।

अन्ततः वह मंगल वेला आ ही गई। उस दिन ब्राह्म मुहूर्त में उठ-कर ऋषिकुमार ऋचीक ने पुत्रेष्टि यज्ञ का पावन समारम्भ किया और वेदोक्त मंत्रों से अभिषिक्त दो पात्रों में पृथक-पृथक खीरें बनवाई! एक को ब्राह्मणोचित संस्कारों में प्रयुक्त मंत्रों द्वारा अभिषिक्त किया गया था और दूसरे को क्षात्र धर्मोचित संस्कारो में प्रयुक्त मंत्रों द्वारा। खीर जब यथाविधि तैयार हो चुकी तो ऋचीक ने सत्यवती को बुलाकर उसे खाने की विधि बतला दी और यह निर्देश कर दिया कि इस

पात्र की खीर को तुम और उस पात्र की खीर को तुम्हारी माता खाएंगी।

भावुक सत्यवती ने सुप्रसन्न मन से दोनों खीर पात्रों के संग अपनी माता के समीप जाकर उनसे यथातथ्य निवेदन किया। किन्तु सत्यवती की माता एक राजा की अर्धांगिनी थी, जिसे अहर्निश छल-छिद्र युक्त समस्याओं का सामना करना पड़ता था। दैवदुर्योग से उसके मन में तत्क्षण यह विकल्प पैदा हो गया कि निश्चय ही ऋचीक ने सत्यवती के लिए जो खीर तैयार कराई होगी, उसका प्रभाव मेरे लिए तैयार की गई खीर के प्रभाव से उत्तम होगा। इस विकल्प ने उसके चंचल मानस को विक्षुब्ध कर दिया। थोड़ी देर तक तो वह चुप खड़ी रही किन्तु फिर लज्जा और संकोच का त्याग करते हुए उसने अपनी ममतामयी पुत्री से स्पष्ट कह दिया—

'बेटी! मेरी इच्छा है कि मैं तुम्हारी खीर खाऊँ और तुम मेरी खीर खाओ। क्योंकि मैं समझती हूँ कि तुम्हारी खीर में मेरी खीर से अधिक प्रभाव है।'

सत्यवती में अपनी माता के आग्रह को टालने की शक्ति नहीं थी। फिर तो दोनों ने वैसा ही किया। सत्यवती ने अपनी माता के लिए तैयार की गई क्षात्रधर्मोचित संस्कार के मंत्रों से अभिषिक्त खीर खा ली और उसकी माता ने सत्यवती के लिए ब्राह्मणोचित संस्कार के मंत्रों से अभिषिक्त खीर का प्राशन किया। किन्तु त्रिकालदर्शी ऋचीक से यह रहस्य छिपा नहीं रह सका। वे शोक से संविग्न होकर दूसरे दिन सत्यवती से भावी अनर्थ की आशंका प्रकट करते हुए बोले—

'सुमुखि! मेरे अनुष्ठान का व्यतिक्रम करके तुमने अच्छा नहीं किया। मैंने तुम्हारे लिए तथा तुम्हारी माता के लिए अलग-अलग जो खीरें बनवाई थीं, उनका प्रभाव अमोघ होगा। अब तो तुम्हारा

पुत्र ब्राह्मण होकर भी घोर क्षत्रियकर्मा होगा और तुम्हारा भाई क्षत्रिय होकर भी बाद में ब्राह्मणधर्मा होगा।'

सत्यवती पति की चिन्तायुक्त बातें सुनकर अवसन्न रह गई, किन्तु अब चारा ही क्या था? पश्चात्ताप की दारुण अग्नि में तपकर जलना ही उसके भाग्य में बदा था? थोड़ी देर तक चुपचाप खड़ी रहने के बाद उसने विनीत स्वर में निवेदन किया—

'प्राणनाथ! मेरे अपराध क्षमा हों। माता की बलवती इच्छा और आशा के सम्मुख मैं विवश हो गई थी, किन्तु मैं नहीं चाहती कि मेरा पुत्र घोर क्षत्रियकर्मा हो। ऐसे पुत्र को प्राप्तकर मैं तो अपना जीवन निरर्थक ही समझूँगी। मैं आपके पैरों पड़ती हूँ, नाथ! यदि ऐसा ही है तो हमारा पौत्र भले ही क्षत्रियकर्मा हो किन्तु मेरे पुत्र को वैसा न होने दीजिए। मैं तो आप ही के समान विद्वान, साधक और क्षमाशील पुत्र को प्राप्त करके ही अपना जीवन धन्य मानूँगी, जो आप की उज्ज्वल परम्पराओं की रक्षा कर ऋषि की पदवी प्राप्त करे।'

उदार तथा क्षमाशील ऋचीक ने सत्यवती की विनत प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। परिणामतः सत्यवती के पुत्र जमदग्नि हुए जिनके औरस पुत्र परशुराम थे। परशुराम के क्षात्रधर्म ने समय आने पर ऐसी प्रचण्डता धारण की कि संसार के सभी क्षत्रिय अस्तंगत हो गए। तपस्वी महात्मा ऋचीक की साधना का ही यह परिणाम था। और उधर सत्यवती की माता की कुक्षि से राजा गाधि को विश्वामित्र नामक पुत्र की प्राप्ति हुई, जो जन्मना क्षत्रिय तथा राजा होने पर भी अपनी व्यक्तिगत साधना और तपस्या से किस प्रकार महान् ऋषि की पदवी को अधिगत कर सके, इसकी लंबी कहानी पुराणों में में वर्णित है।

वसिष्ठ और विश्वामित्र

महर्षि वसिष्ठ का आश्रम सरस्वती के पावन तट पर था। सरस्वती वैदिक काल में आधुनिक पंजाब राज्य की एक प्रमुख नदी थी और वेदों, महाभारत तथा कतिपय पुराणों में उसकी अत्यधिक चर्चा आई है। किन्तु अति प्राचीन काल से ही उसका जल विलुप्त हो गया और धीरे-धीरे उसका केवल नाम ही शेष रह गया। महर्षि वसिष्ठ की साधना और तपस्या की देश के कोने-कोने में चर्चा थी और बड़े-बड़े ऋषि, मुनि तथा सम्राट उनके प्रति आदर प्रकट करते थे। वसिष्ठ जी को सृष्टिपितामह ब्रह्मा का पुत्र बताया जाता है।

कान्यकुब्ज के अधीश्वर राजा कुशिक के पुत्र गाधि थे। गाधि के पुत्र विश्वामित्र जब कान्यकुब्ज प्रदेश के शासक हुए तो उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा तथा बुद्धि बल से प्रजा का विधिवत पालन-पोषण किया। विश्वामित्र में यौवनकाल से ही राजसी भावों की प्रधानता थी। दया, परोपकार, दान, यज्ञ, तीर्थाटन, तपस्या और स्वाध्याय के साथ-साथ युद्ध, आक्रमण, मानमर्दन एवं प्रतिहिंसा के प्रति भी वे आरम्भ से ही अधिक रुचि रखते थे और जब शासन की बागडोर उनके हाथों में आयी तो उन्होंने अपनी इन प्रवृत्तियों का यथेष्ट पोषण किया। अनेक वृहत् यज्ञों के सदनुष्ठानों में उन्होंने याचकों को प्रचुर दान दक्षिणा देने में अपना कोश रिक्त कर दिया। स्वयं अकिंचन बन गये किन्तु किसी भी याचक को कभी विमुख नहीं किया। विश्वामित्र की प्रतिष्ठा थोड़े ही दिनों के शासनकाल में उनके पूर्वजों से भी बहुत अधिक बढ़ गई, किन्तु उनमें अब भी एक अभाव था। अपने त्याग एवं तप के अनुरूप सन्तोष और सहिष्णुता उनमें नहीं थी। ईर्ष्या और परच्छिद्रान्वेषण से उनकी बुद्धि कभी

स्थिर नहीं रहती थी। यद्यपि यत्न करते थे तथापि स्वाभाव की इस क्रूर गति का नियंत्रण नहीं कर पाते थे।

एक बार विश्वामित्र आखेट के लिए सुदूर जंगल को गए। उनके साथ उनकी सेना के सुचतुर खिलाड़ी तथा सन्मित्र भी थे। आखेट को यह स्थली पुण्य सलिला सरस्वती की तटवर्ती अरण्यानी थी। दिन भर मृगया के पीछे दौड़ते-धूपते राजा समेत जब सभी लोग परिश्रान्त हो गए और उधर सन्ध्या भी समीप आ गयी तो सब को विवश होकर रात्रि को व्यतीत करने के लिए किसी न किसी स्थान को ढूँढ़ निकालने की चिन्ता हुई। अनुचरों द्वारा ज्ञात हुआ कि महर्षि वसिष्ठ का पुण्य आश्रम समीप में ही है। विश्वामित्र महर्षि वसिष्ठ के अनन्य प्रशंसक थे। इसी प्रसंग में वसिष्ठ के सान्निध्य का शुभ संयोग भी मिलेगा—यह जान कर राजा विश्वामित्र को परम प्रसन्नता हुई। अपने दल-बल के साथ वे महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में जा पहुँचे। उस समय महर्षि सन्ध्यावंदन में लगे थे। महर्षि वसिष्ठ के ज्येष्ठ पुत्र शक्ति ने राजा विश्वामित्र का सुन्दर स्वागत किया और उनके सभी अनुचरों एवं साथियों को आश्रम में ले जाकर टिकाया।

सन्ध्यावन्दन के अनन्तर जब महर्षि वसिष्ठ को अपने आश्रम में राजा विश्वामित्र और उनके साथियों के आगमन का संवाद सुनाया गया तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। विश्वामित्र को वे भूमण्डल के सभी राजाओं में श्रेष्ठ मानते थे। अपने आश्रम में साथियों समेत उनके स्वागत का यह सुन्दर सुयोग पाकर वह उत्फुल्ल हो उठे। अपने शिष्यों तथा परिवार के लोगों को साथ लेकर वे विश्वामित्र के समीप गए और सब प्रकार से उनके शील, सदाचरण और सत्कृत्यों की सराहना करके उन्हें सुप्रसन्न किया। किन्तु दिन भर मृगया के पीछे-पीछे लगे हुए परिश्रान्त विश्वामित्र और उनके साथियों की तृप्ति अन्न-जल के विना असंभव थी। उनके मुख सूखे हुए थे, वाणी

रूक्ष हो गई थी और आँखों में थकावट के चिह्न स्पष्ट हो रहे थे। महर्षि वसिष्ठ जैसे दीर्घदर्शी अनुभवी और बहुश्रुत विद्वान् से राजा विश्वामित्र और उनके अनुचरों की यह चिन्ता छिपी न रही। उन्होंने अपने सौ पुत्रों को राजा और उनके अनुचरों की सेवा-शुश्रूषा और संवर्धना करने की तत्क्षण आज्ञा दी।

वसिष्ठ का आश्रम तपस्वियों की साधना का एक पुण्य-स्थल था। उसमें राजा अथवा राजा के सैकड़ों अनुचरो आदि के योग्य भोजनादि की सामग्री कहाँ थी। वसिष्ठ के पुत्रों को अपने पिता की आज्ञा से आश्चर्य और दुःख हुआ और वे मन ही मन इस ग्लानि में गलने लगे कि राजा और उनके साथ आने वाले इन सैकड़ों सम्मान्य अतिथियों की सेवा किस प्रकार सम्पन्न की जा सकेगी! किन्तु पुत्रों की इस विवशता को महर्षि वसिष्ठ ने तत्काल समझ लिया। उन्होंने अपने बड़े पुत्र शक्ति को एकान्त में बुलाकर कहा—'तुम नन्दिनी के कक्ष में चले जाओ और वहाँ जो कुछ वस्तुएँ प्राप्य हों उन्हें लेकर आओ।'

पिता की आज्ञा पाकर साश्चर्य शक्ति ने अपने पचास भाइयों के साथ नन्दिनी के कक्ष की ओर प्रस्थान किया और इधर महर्षि वसिष्ठ की आज्ञा से उनके शेष पुत्र राजा और उनके अनुचरों के विश्राम के लिए स्थानादि की व्यवस्था में लग गए। स्वयं वसिष्ठ जी राजा विश्वामित्र के साथ विविध वार्तालापों में लगे रहे।

वसिष्ट पुत्र शक्ति ने उत्सुक नेत्रों से जब नन्दिनी का कक्ष देखा तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। जिस आश्रम में मुनियों और ब्राह्मणों के योग्य दिन भर के खाद्य-पदार्थों के सिवा कभी फूटा अन्न भी नही बचता था, उसमें ये राजसी भोग-विलास की सामग्रियां कहाँ से आ गईं यह बात शक्ति की बुद्धि में सहसा नहीं आई। वह कुछ क्षण तक विस्मय-विमुग्ध हो कर उन वस्तुओं की ओर ताकता रहा। फिर पिता के आदेश का स्मरण कर अपने भाइयों के साथ उन्हें

लाकर राजा विश्वामित्र की सेवा में प्रस्तुत किया। उन समाग्रियों में राजा और उनके अनुचरों के लिए केवल खाद्य-सामाग्री ही नहीं थी, वरन् उनके शयन, स्नान, शृंगार एवं विलासादि की भी बहुमूल्य राजसी सामग्रियाँ थीं। विश्वामित्र और उनके अनुचरों तथा मित्रों को स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी कि इस बीहड़ वन्य प्रान्त में वसिष्ठ जैसे संसार से विरक्त मुनि के आश्रम में इतनी रात बीते भोजनादि की सामग्री कहाँ मिलेगी, किन्तु जब उन्हों ने देखा कि आज उनके सम्मुख खाने-पीने आदि की जो राजसी सामग्रियाँ रखी गई हैं, उनकी तुलना में उनकी राजधानी की वस्तुएं भी फीकी पड़ जायँगी तो वे आश्चर्य के समुद्र में डूब गए। कहाँ संसार से सदा विरक्त रहने वाले एक मुनि का अकिंचन आश्रम और कहाँ देवराज इन्द्र के उपभोग योग्य ये बहुमूल्य सामग्रियाँ। विश्वामित्र और उनके अनुचरों ने बड़े आश्चर्य और कुतूहल से महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में वह रात बिताई। महर्षि के पुत्रों और शिष्यों ने उन सब का जो स्वागत-समादर किया, जीवन में उसकी तुलना असंभव थी। उनके जीवन की वह अपूर्व घड़ी थी। अमृत के समान सुस्वादु-स्वास्थ्यकर तथा विविध प्रकार के व्यंजनों की प्रशंसा की जाय अथवा दिनभर के धूल-धूसरित वस्त्रों को उतारने के अनन्तर उन्हें पहनने के लिए जो बहुमूल्य वस्त्र तथा आभूषण दिए गए थे, उनकी प्रशंसा की जाय—यह बात वे समझ ही नहीं पा रहे थे। विश्वामित्र समेत उनके सभी अनुचर तथा मित्र थके मंदे होने पर भी रात भर इसी चर्चा में लगे रहे। महर्षि वसिष्ठ के आश्रम का यह इन्द्रोपम वैभव किसी भी प्रकार से उनकी बुद्धि में नहीं आ रहा था।

कुतूहल और उत्कण्ठा की वह रजनी बीत गई। सूर्योदय के पूर्व से ही महर्षि वसिष्ठ का आश्रम उनके शिष्यों और पुत्रों की वेद ध्वनि तथा अग्नि होत्र के पावन मंत्रों के उच्चारण से गूँज रहा था। प्रभात की सुगंधित वायु अपनी मंद गति से अतिथियों का स्वागत कर रही

थी। आश्रम वासी पक्षियों के कलरव और मधुर गायन उनका अभिनन्दन कर रहे थे। राजा अपने साथियों समेत अभी अपनी शैय्या पर ही तन्द्रा निमग्न थे कि उनके शयन कक्ष में महर्षि बसिष्ठ का आगमन हुआ। राजा ने महर्षि का चरण स्पर्श किया और उनकी कृपा का यह अवसर प्राप्त करने के लिए अपने भाग्य की सराहना की।

महर्षि ने राजा से आश्रम की त्रुटियों के सम्बन्ध में पूछते हुए कहा—'राजन्। हम अरण्यवासी ब्राह्मण आप महानुभावों का स्वागत-समादर भला किस प्रकार कर सकते हैं? कृपाकर जो कुछ त्रुटि हुई हो उसे क्षमा करेंगे।'

विश्वामित्र महर्षि वशिष्ठ के स्वागत भार से दबे जा रहे थे। उन्होंने कृतज्ञता भरे स्वर में आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'महर्षि! अपने संपूर्ण जीवन में यह एक संस्मरणीय दिवस रहा है। आपने हमारा जो स्वागत-समादर किया है, उसकी तुलना इस पृथ्वी मंडल पर कहीं नहीं की जा सकती। हमारा तो अनुमान है कि इस प्रकार की सेवा-शुश्रूषा और समादर हमें अब अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। हमें आश्चर्य है कि आप जैसे बीतराग महर्षि के आश्रम में अमरावती को लज्जित करने वाली ये सामग्रियाँ किस प्रकार से प्राप्त हो गयीं। महामुने! यदि आप अनुचित न मानें तो कृपया इसका रहस्य हमें बताएँ क्योंकि हमारा कुतूहल हमें यह जानने के लिए विवश कर रहा है!'

महर्षि वसिष्ठ मुस्कराए। उनकी विरक्त किन्तु तेजस्विनी आँखें क्षण भर के लिए चमक उठीं। उन्होंने अपनी सहज वाणी में कहा—'राजन्! यह सब प्रभाव मेरी आराध्य नन्दिनी का है। जो हमारे तप एवं पुण्यों के कारण हमारे इस आश्रम को सनाथ करती है। अन्यथा हम जैसे अकिंचन ब्राह्मण के आश्रम में आप जैसे महान् पुरुषों के स्वागत-योग्य सामग्रियाँ कैसे मिल सकती थीं।'

महर्षि की सहज निश्छल वाणी सुनकर विश्वामित्र चुप हो

गये। नन्दिनी के सम्बन्ध में उन्हें पहले से ही कुछ सूचना मिली थी, किन्तु वह ऐसी महिमामयी होगी, इसका उन्हें स्वप्न में भी अनुमान नहीं था। वह क्षण भर के लिए चुप हो गए। किन्तु इसी क्षण भर में उनका चंचल मन त्रैलोक्य की परिक्रमा करने लगा। उन्होने सोचा, इस एक ही गाय को प्राप्त करके हम अपना उभयलोक सुफल कर सकते हैं। त्रैलोक्य की सम्पूर्ण समृद्धि को क्षण भर में ही प्रदान करने वाली इस धेनु को जिस प्रकार से भी संभव हो, महर्षि वसिष्ठ से उन्हें प्राप्त करना है। लोभ की इस काली रेखा ने विश्वामित्र के विवेक-स्थल को घेर लिया। मोहक अज्ञान से वे इतने अधिक ग्रस्त हो गए कि कुछ बिना सोच-विचार किए ही वे वसिष्ठ से बोल पड़े—

'महर्षि! आपने अपने आश्रम में हम लोगों का जो स्वागत-समादर किया है, उसके लिए हम आपके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। किन्तु हमारी यह कृतज्ञता जीवनव्यापिनी हो जायगी यदि आप नन्दिनी को हमें दे देंगे। संसार की कठिनाइयों को दूर करने में मैं नन्दिनी को अपने लिए अत्यन्त आवश्यक समझता हूँ। आप महर्षि हैं। संसार से विरक्त हैं। नन्दिनी भला आपका क्या हित-साधन कर सकती है। वह तो हमारे जैसे संसारी के आश्रम में ही रहने योग्य है।'

विश्वामित्र की अविचारपूर्ण बातें सुनकर महर्षि वसिष्ठ किंचित क्षणों के लिए अवसन्न हो गए। उन्हें ऐसी आशंका भी नहीं थी। नन्दिनी उनकी साधना का एक संबल ही नहीं थी, वरन् उसके बिना वह धरती पर रह ही नहीं सकते थे। उनके जीवन का अवलंब भी थी वह। प्रतिदिन महर्षि स्वयं अपने हाथों से उसकी सेवा-शुश्रूषा करते थे। खिलाते-पिलाते थे। उसे खिलाकर स्वयं खाते थे और उसे पानी पिलाकर स्वयं पानी पीते थे। जब वह खा-पीकर बैठ जाती थी तो उसका चरण स्पर्श करते थे और उसकी आज्ञा लेकर विश्राम करते थे।

वह उनकी माता से भी बढ़कर पूज्य तथा आदरणीय थी। अपने शरीर को वह त्याग सकते थे किन्तु नन्दिनी का त्यागना सुकर नहीं था। उन्होंने बिना किसी संकोच और बनावट के उत्तर दिया—'राजन्! नन्दिनी को देना मेरे लिए असंभव है। वह हमारे आश्रम का अवलंब ही नहीं, हमारे जीवन का भी अवलंब है।'

विश्वामित्र अधीर हो रहे थे। उन्होंने तत्क्षण पुनः अपना तर्क प्रस्तुत किया—'महर्षि! मैं आपके आश्रम को सुव्यवस्थित रूप में संचालित करने का दायित्व अपने ऊपर लेता हूँ। जितना भी धन, वैभव और साधन आवश्यक होगा, मैं आपको दे सकता हूँ। और यही नहीं, एक नन्दिनी के बदले यदि आप एक करोड़ सवा करोड़ गौएँ हमसे लेना चाहें तो हम आपको सहर्ष प्रदान कर सकते हैं किन्तु मैं नन्दिनी को अवश्य ले जाना चाहता हूँ।'

वसिष्ठ जी धीर-गम्भीर वाणी में मुस्कराते हुए बोले—'राजन्! आप शक्तिशाली हैं, सब प्रकार के साधनों से सम्पन्न हैं, जो चाहें करें, किन्तु नन्दिनी को मैं अपनी इच्छा से आपको नहीं दे सकता।'

विश्वामित्र बीच में ही बोल पड़े—'मुनिवर! हम राजा हैं। हमें अनेक बार अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए दूसरों की इच्छाओं का विघात तो करना ही पड़ता है। नन्दिनी अब हमारी हो चुकी है, आप उसके बदले जो कुछ लेना चाहें, अब भी माँग सकते हैं। हमें कोई भी वस्तु देने में आपत्ति न होगी।'

वसिष्ठ जी आने वाली विपत्ति की चिन्ता से दुःखी हो रहे थे। वे कुछ उत्तर दिए बिना ही चुपचाप राजा के शयन-कक्ष से उठकर अपनी यज्ञशाला की ओर चले गए।

× × ×

विश्वामित्र ने अपने साथियों तथा सेवकों से नन्दिनी को छोड़कर अपने साथ ले चलने की जब आज्ञा दी तो वसिष्ठ के पुत्रों तथा

शिष्यों में खलबली मच गई। किन्तु वशिष्ठ के संकेत पर सभी चुप बने रहे। किसी की विरोध-वाणी भी प्रकट नहीं हुई।

नन्दिनी कामधेनु की पुत्री थी। समस्त कामनाओं की इच्छा करते ही पूर्ति कर देना उसका काम था। महर्षि वशिष्ठ की हार्दिक भावनाओं को वह जान गई थी। किन्तु महर्षि स्वयं अभी तक असमंजस में थे। वे अपने हृदय में इसी बात को उधेड़बुन में लगे हुए थे कि विश्वामित्र का कल्याण किस प्रकार होगा? इतने प्रकार के यज्ञों तथा दान आदि सत्क्रियाओं के अनुष्ठान के बाद भी वह क्यों ऐसे विवेक शून्य हो रहे हैं। नन्दिनी से वह यहाँ रहते हुए भी जो कुछ इच्छा होती मेरे द्वारा माँग सकते थे। इस प्रकार के अप्रिय प्रकरण के उपस्थित करने की क्या आवश्यकता थी! नन्दिनी को महर्षि वसिष्ठ की इस विकलता का ज्ञान था। निदान जब राजा के सेवक तथा साथी उसे बलात् छीनकर राजधानी की ओर ले चलने को उद्यत हुए तो वह भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गयी। दो-एक करुण आवाज लगाने के बाद इधर-उधर भागने का प्रयत्न करने लगी। किन्तु कहाँ वे एक अविवेक राजा के उद्दण्ड सेवक तथा साथी और कहाँ एक महर्षि की धेनु। सेवकों के चार छः दण्ड-प्रहारों से वह सुस्त पड़ गयी और चुपचाप उनके पीछे-पीछे चलने लगी। किन्तु जब आश्रम की सीमा समाप्त होने को आई और इधर वसिष्ठ के निराश पुत्रों तथा शिष्यों की मण्डली में हाहाकार मच गया तब नन्दिनो को भी अपना कर्त्तव्य समझने में विलम्ब नहीं लगा। वह चण्डी हो गई। अपने फूले हुए नथुनों से फूत्कार करती हुई वह उछल कूद मचाने लगी। क्रोध से रक्तवर्ण उसके दोनों नेत्र यमराज के नेत्रों की भाँति अति-भयंकर बन गये। उसने एक लम्बी छलांग लेकर अपने चारों पैरों को ऊपर उठाया और अपनी रज्जु पकड़ने वाले सेवक को नीचे गिरा दिया। सींगों से अनेक को भयत्रस्त बनाया और पूँछ को ऊपर उठाकर भयंकर आवाज करतो हुई रज्जु समेत अपने आश्रम में महर्षि

वसिष्ठ के समीप जाकर खड़ी हो गयी। उसके दोनों नेत्रों से आँसू बह रहे थे।

महर्षि वसिष्ठ ने नन्दिनी को थपथपाया और विनयभरी वाणी में कहा—'माता!' मैं आपकी कठिनाई समझ रहा हूँ, किन्तु क्या करूँ, विवश हूँ। मुनिधर्म की कठोरता के कारण मैं आपसे कुछ कह भी नहीं सकता। मेरी इच्छा नहीं है कि आप मेरा आश्रम छोड़कर चली जायँ।'

नन्दिनी ने मधुरता और प्यार से भरी एक आवाज लगाकर मानों वसिष्ठ की इच्छा से अवगत होने की सूचना दी। मानो वह कह रही हो कि आपकी इच्छा के बिना मुझे यहाँ से बलात छीनकर ले जाने की शक्ति देवराज इन्द्र में भी नहीं है।

वसिष्ठ ने कहा—'माता! मैं आपको स्वप्न में भी अपने आश्रम से बाहर नहीं देख सकता।'

नन्दिनी ने फिर वैसी ही आवाज दी। मानो वह महर्षि की इच्छा का सब तरह से पालन करने की सम्मति दे रही हो। किन्तु उधर विश्वामित्र के अनुचर और साथी भी विरत नहीं थे। वे आश्रम में पुनः आ गए और नन्दिनी की सद्योजात बछिया को लेकर चलते बने। उनका विश्वास था कि माता के समान उसकी बछिया में भी कामनाओं को पूर्ण करने की शक्ति अवश्य होगी। महर्षि वसिष्ठ के समीप विनय भाव से खड़ी नन्दिनी को जब अपनी बछिया की करुण आवाज सुनाई पड़ी तो वह तत्क्षण विचलित हो गई। सतर्क नेत्रों से उसने चारों दिशाओं की ओर देखा। कुछ दूर पर राजसेवकों तथा साथियों के द्वारा अपनी बछिया को ले जाते हुए देखकर वह क्रोधावेश से भर गई। उसकी करुणाविगलित नेत्रों की गत लालिमा पुनः उठ आई। नथुने पुनः फूल गए, चरणों की चपलता पुनः गतिशील हो गई। भयंकर आवाज और फूत्कार के साथ वह राज-सेवकों के समूह पर टूट पड़ी। अपनी प्रचण्ड सींगों तथा चरणों से उसने

पहुँचते ही अनेक राजकर्मचारियों को आहत कर दिया, कुछ को नीचे गिरा दिया और कुछ को भयविह्वल बनाकर दूर भगा दिया। बछिया को पकड़ने वाले सेवक के उदर में उसकी दोनों सींगें घुस गईं। फिर तो रज्जु नीचे गिर पड़ी और नन्दिनी के साथ उसकी बछिया भी छलांगें मारते हुए क्षण भर में ही वसिष्ठ के समीप पहुँच गई।

नन्दिनी की इस भयंकर मूर्ति और करतूति का अनुमान विश्वामित्र और उनके साथियों को नहीं था। अपने अनुचरों की यह दुर्गति देखकर विश्वामित्र भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये और उन्होंने अपने हृदय में वसिष्ठ को सब प्रकार से अपमानित और लांछित करने का दृढ़ संकल्प लिया। क्योंकि नन्दिनी के इस प्रभाव में उन्होंने महर्षि वसिष्ठ के ब्रह्मतेज को ही कारण माना। वे हतप्रभ होकर अपने हताहत साथियों को संग लेकर महर्षि वसिष्ठ के आश्रम से बाहर चले आये और किसी प्रकार अपनी राजधानी में वापस पहुंचे। किन्तु वसिष्ठ के इस त्रैलोक्य दुर्लभ तप-प्रभाव को वे भूल नहीं सके। अपनी राजधानी में पहुँचकर उन्होंने अपने भोग-विलास पूर्ण राजसी जीवन का सर्वथा परित्याग कर दिया और अपने तप के प्रभाव से वसिष्ठ को भी अपमानित करने की दुष्कर प्रतिज्ञा ग्रहण की।

तपस्या और साधना द्वारा संसार के दुष्कर से भी दुष्कर कार्य सुगम बन सकते हैं किन्तु जब तपस्या और साधना का उद्देश्य कल्याणकारी होता है तब। और जब दुर्भाग्य से उनका उद्देश्य ही दूषित होता है तब उनके द्वारा सिद्धि की प्राप्ति बहुत कठिन हो जाती है। विश्वामित्र ने राज पाट छोड़कर ऐसी कठोर तपस्या की जिसकी तुलना अन्यत्र दुर्लभ है। आरम्भ में अनेक वर्षों तक उन्होंने अन्न ग्रहण नहीं किया, केवल फल फूल पर जीवन बिताया, बाद में फल फूल भी त्याग दिए और जल वायु के सहारे रहे। और तदनन्तर जल भी त्याग दिया और प्राणायाम के द्वारा अपने शरीर की रक्षा की। उनके इस कठोर तप की चर्चा त्रैलोक्य में फैल गयी और देवराज

इन्द्र तक काँप उठे। पुराणों का कथन है कि देवराज ने विश्वामित्र का अपूर्व सम्मान किया और उन्हें अपने समीप में बैठाकर सोमरस का पान कराया और उन्हें ब्राह्मण होने की व्यवस्था दी। किन्तु विश्वामित्र के हृदय में तो बसिष्ठ से बदला चुकाने की भावना बलवती हो रही थी। वे किसी भी उपाय से बसिष्ठ के तपमद को खण्डित करने की योजना में ही लगे रहे।

अन्ततः विश्वामित्र ने महर्षि वसिष्ठ के आश्रम की भाँति अपना भी आश्रम सरस्वती के दूसरे पावन तट पर बनाया और वहाँ रह कर ही वसिष्ठ से बदला लेने का निश्चय किया। अनेक योजनाएँ बनाईं, अनेक अवसर निकाले, किन्तु महर्षि बसिष्ठ की करुणा और क्षमा ने विश्वामित्र को सर्वदा निष्फल ही किया। अन्त में निरुपाय होकर उन्होंने बसिष्ठ का जीवन समाप्त कर देने की अभिसंधि की। अपने अमोघ मंत्रबल से उन्होंने सरस्वती का आवाहन किया और जब वह मूर्तिमती होकर सम्मुख खड़ी हुई तो उसे आदेश दिया कि—'जिस समय बसिष्ठ ध्यान में निमग्न हों, उस समय तुम उन्हें अपने प्रवाह में ले लो और मेरे आश्रम में लाकर पहुँचा दो। उस दम्भी और अभिमानी ऋषि को मैं क्षण भर के लिए भी जीवित नहीं देखना चाहता।'

सरस्वती बसिष्ठ की आराध्या नदी थी। अनेक वर्षों से उसके पावन तट पर महर्षि बसिष्ठ का पुण्य आश्रम था। उनके सन्निधान से सरस्वती की सुषमा और पवित्रता की वृद्धि हो रही थी। प्रकृति के परम दयालु और क्षमाशील बसिष्ठ को दम्भी और अभिमानी की संज्ञा देने वाले विश्वामित्र के तप का यदि अमोघ प्रभाव न होता तो सरस्वती उन्हें स्वयं ही उचित उत्तर दे सकती थीं। किन्तु विवशता थी! विश्वामित्र के प्रचण्ड तपः तेज को सहन करने की उसमें भी शक्ति नहीं थी। सिर नीचा कर के उसने विश्वामित्र की आज्ञा को स्वीकार किया और बसिष्ठ के समीप पहुँच कर अपनी विषम स्थिति को

निवेदित किया। महर्षि वसिष्ठ अकुतोभय थे। विश्वामित्र की बात तो दूर वे यमराज अथवा मृत्यु से भी नहीं डरते थे। उन्होंने मुस्कराते हुए सरस्वती को अपना कर्त्तव्य पूर्ण करने की स्वीकृति दे दी।

पुराणों का कथन है कि जिस समय महर्षि वसिष्ठ ध्यान में निमग्न थे उस समय सरस्वती ने अपनी चंचल लहरों में लपेट कर उन्हें विश्वामित्र के आश्रम में पहुँचा दिया। उस समय विश्वामित्र बैठे बैठे वसिष्ठ का जीवन समाप्त कर देने की योजना बना रहे थे। अकस्मात् अनेक वर्षों बाद वसिष्ठ को सम्मुख देखकर वे क्रोध से अन्धे होकर इधर उधर शस्त्रास्त्र ढूँढ़ने लगे, किन्तु एकान्त आश्रम में उन्हें ऐसी कोई वस्तु नहीं मिली, जिसके द्वारा वसिष्ठ का जीवन समाप्त हो जाता। वे शस्त्रास्त्र ढूँढ़ते हुए कुछ दूर चले गए। महर्षि वसिष्ठ को विश्वामित्र की यह दशा देखकर अत्यन्त करुणा आई, किन्तु तब तक सरस्वती की प्रचण्ड लहरों ने उन्हें अपने आश्रम में पहुँचा दिया। अपनी बुद्धि से विश्वामित्र की आज्ञा को तो वह पूर्ण ही कर चुकी थीं। किन्तु जब पत्थरों के चार-पांच खण्डों को उठा कर क्रोध से हाँफते हुए विश्वामित्र वसिष्ठ के समीप आए तब उन्हें वहाँ वसिष्ठ जी नहीं दिखाई पड़े। क्रोध की उस भयंकर ज्वाला को वश में करना उनके बूते की बात नहीं थी, उन्हें तत्क्षण सरस्वती की कुटिलता का ज्ञान हो गया। उन भयंकर पाषाण खण्डों को सरस्वती की धारा में फेंकते हुए उन्होंने कंपित स्वर में कहा—

'कुटिल सरस्वती। तूने मेरे साथ छल किया है, अतः मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि तेरा जल रक्त हो जाय और अब से तुझमें स्नान करने के लिए कोई न आए।'

विश्वामित्र की उस अखण्डित तपस्या का प्रभाव मिटाने की क्षमता किसी में नहीं थी। देखते ही देखते सरस्वती का दुग्ध धवल जल रक्त के समान दूषित और दुर्गन्ध पूर्ण हो गया। और जहाँ सायं-प्रातः ऋषियों-मुनियों और साधकों के समुदाय उसके पावन तट पर आकर

आनंद मनाते थे वहीं राक्षसों और पिशाचों के झुण्ड आकर एकत्र होने लगे। किन्तु सरस्वती की यह दुर्दशा दीर्घ काल तक नहीं रही। ऋषियों मुनियों और साधकों की संयुक्त प्रार्थना पर शिव जी की कृपा से उसे पुनः अपनी निर्मल जल-धारा प्राप्त हो गई और वसिष्ठ समेत ऋषियों मुनियों का समुदाय पूर्ववत आनन्द मनाने लगा।

शिव द्वारा सरस्वती के जल के निर्मल होने का संवाद जब विश्वामित्र को मिला तो वे मर्माहत होकर वसिष्ठ की दुर्गम सिद्धियों को निष्फल बनाने की चिन्ता छोड़ कर उनके समूल विनाश की चिन्ता करने लगे। इसी बीच दैवयोग से एक दूसरी घटना घटित हो गई।

अयोध्या के राजवंश के कुलगुरु होने के कारण महर्षि वसिष्ठ और उनके पुत्रों का आना जाना वहाँ बराबर लगा रहता था। उस समय अयोध्या की गद्दी पर कल्माषपाद नामक राजा राज्य करते थे। कल्माषमाद प्रकृति के दुरभिमानी तथा क्रूर शासक थे। एक बार महर्षि वसिष्ट के ज्येष्ठ पुत्र शक्ति से उनका विवाद इस कारण बढ़ गया कि जिस सँकरे राजमार्ग से राजा का रथ जा रहा था उसी की दूसरी तरफ से शक्ति का रथ आ रहा था। शक्ति राजा के गुरु थे अतः उनके सारथी ने आशा की कि परम्परानुसार राजा का रथ ही एक ओर होकर उसके रथ को आगे निकलने का मार्ग देगा किन्तु उधर राजा के संकेत से उसके सारथी ने रथ को बगल न करके शक्ति के सारथी को ही रथ को बगल करने का इशारा किया। किन्तु अब तो बात बिगड़ चुकी थी। गुरु-पुत्र शक्ति ने इसे अपना अपमान समझा और उच्च स्वर में इस अनीति का प्रतिवाद करते हुए कहा—

'राजन्! मेरे रथ को बगल करके आपका रथ आगे जाय—यह मेरा अपमान है। शास्त्रों की आज्ञा है कि सर्वप्रथम गुरु और ब्राह्मण को मार्ग मिलना चाहिए।'

कल्माषमाद का क्रोध प्रचण्ड हो रहा था। वह गरजते हुए

बोला—'दुर्बुद्धि ब्राह्मण ! मैं केवल महर्षि वसिष्ठ को अपना गुरु मानता हूँ। तुम्हारे सौ भाई हैं, मैं किस-किस को मार्ग देता चलूँगा। तू ही अपना रथ पीछे हटा ले जा। शास्त्र की आज्ञा यह भी है कि सर्वप्रथम राजा को मार्ग दिया जाय क्योंकि वह समस्त देवताओं का प्रतिनिधि है।'

शक्ति का क्रोध अपनी सीमा पार कर चुका था। वह भी गरजते हुए बोला—'दुर्बुद्धि राजा ! तू शासन के ऊँचे पद पर बैठने योग्य नहीं है। गुरु का पुत्र भी गुरु के समान ही आदर का भागी है। मैं तुमसे कोई भिक्षा नहीं माँग रहा हूँ। यह तो मेरा अधिकार है।'

राजा के क्रोध का वारापार नहीं रहा। अपने सारथी के हाथों से चाबुक छीनकर वह अपने रथ से नीचे कूद पड़ा और शक्ति के रथ पर आरुढ़ होकर उसने बड़ी निर्ममता से शक्ति को अनेक चाबुक लगाए। संयोगात् उस समय राजमार्ग पर जो भीड़ यह सब दृश्य देखने के लिए एकत्र हुई थी, उसी में विश्वामित्र भी सुप्रसन्न मन में अपने सहज बैरी वसिष्ठ के पुत्र का अपमान देख रहे थे। इस छोटे-से काण्ड में उन्होंने वसिष्ठ के समूल नाश का उपाय तत्क्षण निश्चित कर लिया। राजा ने शक्ति को तब तक चाबुक से मारा जब तक वह स्वयं थक नहीं गया। चाबुक की भीषण चोटों से आहत शक्ति को मूर्च्छा आ गयी। उनका सारथी भय से विह्वल होकर एक कोने में दुबक गया था और सहस्रों दर्शनार्थियों में से किसी का ऐसा साहस नहीं था कि वह क्रोधान्ध राजा को इस अन्यायपूर्ण कार्य से रोक सकता। सब चुपचाप यह दृश्य देखते ही रह गए। कुछ क्षण बाद थके हुए कल्माषपाद को स्वयमेव अपने इस कुकृत्य पर ग्लानि हुई। उधर थोड़ी देर बाद आहत शक्ति को जब संज्ञा मिली तो उसने केवल यही कहा—'दुर्बुद्धि राजा ! तू ने मेरे साथ राक्षसों जैसा नृशंस व्यवहार किया है। जा तू राक्षस ही हो जायगा।'

शक्ति के इस शाप को सुन कर राजा अवसन्न हो गया। महर्षि

वसिष्ठ की तपस्या और साधना से वह परिचित था। क्रोधावेश में वह जो कुछ कर चुका था, उसी की ग्लानि में वह अब तक गला जा रहा था कि शक्ति की इस शापमयी वाणी को सुन कर विकम्पित हो गया। वह शक्ति के चरणों पर गिर कर उससे शाप मोचन का उपाय पूछने ही जा रहा था कि विश्वामित्र की प्रेरणा से एक राक्षस की आत्मा ने तत्काल ही कल्माषपाद के शरीर में प्रवेश कर लिया। विश्वामित्र के लिए यह अच्छा अवसर था। क्योंकि गुरु और शिष्य के इस विवाद में उन्होंने वसिष्ठ के सकुल विनाश का उपाय निश्चित कर लिया था।

राक्षस की आत्मा के प्रवेश होते ही राजा कल्माषपाद की बुद्धि विकृत हो गई। शक्ति के चरणों पर गिरकर क्षमा मांगने की बात वह भूल गया और तुरन्त कठोर शब्दो में शक्ति की भर्त्सना करते हुए वह राजभवन को वापस लौट आया। विश्वामित्र के लिए यह अत्यन्त अनुकूल अवसर था। उन्होंने राजा कल्माषपाद की बुद्धि को ऐसा विकृत किया कि उसने एक मांसभोजी शाक्त ब्राह्मण को मुर्दे का मांस खिलादेने की आज्ञा दे दी। किन्तु वह ब्राह्मण उक्त मांस को खाने से पहले ही राजा कल्माषपाद के षड्यन्त्र को समझ गया। उसने भी राजा को मुर्दे का मांस खाने वाले पिशाच की योनि प्राप्त करने का शाप दे दिया। राजा पहले से ही राक्षसी कर्मों में अनुरक्त हो रहा था, शाक्त ब्राह्मण के शाप से वह अत्यन्त उग्र हो कर राजधानी से बाहर भाग निकला। वसिष्ठ पुत्र शक्ति पर उसका क्रोध अभी तक शान्त नहीं हुआ था। फिर तो शक्ति को ढूँढ कर उन्हीं का मांस खाने की ताक में वह घूमने लगा।

दैवात् वसिष्ठ के आश्रम में पहुँचने पर मध्य मार्ग में ही उसे शक्ति मिल गया। पिशाच राजा ने वशिष्ठ पुत्र शक्ति को देखते ही पटक कर मार डाला और उसके शरीर को नोंच-नोंच कर खा डाला। वसिष्ठ के शेष पुत्रों और शिष्यों ने राजा के इस क्रूर कर्म का जब तीव्र विरोध

किया तो वह अपनी अतुलित पैशाचिक शक्ति से उन पर भी टूट पड़ा और बसिष्ठ के देखते ही देखते उनके भरे पुरे आश्रम को सूना कर दिया। गुरु होने के नाते उसने महर्षि वसिष्ठ पर हाँथ नहीं उठाया! विश्वामित्र बसिष्ठ के इस सकुल संहार की नृशंस लीला से आनन्दित हो उठे, किन्तु अब भी उन्हें पूर्ण शान्ति नहीं थी, क्योंकि बसिष्ठ अब भी जीवित थे।

अपने प्यारे पुत्रों तथा शिष्यों के विनाश से महर्षि वसिष्ठ अत्यन्त दुःखी हुए। यद्यपि उनसे यह छिपा नहीं था कि इस विनाश लीला में विश्वामित्र का हाथ है तथापि उन्होंने विश्वामित्र पर अथवा पिशाच राजा कल्माषपाद पर अपना क्रोध नहीं प्रकट किया। अपने पुत्रों तथा शिष्यों के शोक से दिन-रात विह्वल होने पर भी उनके मुख से कोई अप-शब्द तक नहीं निकला। जो आश्रम सहस्रों योग्य शिष्यों तथा पुत्रों से भरा रहता था, वही श्मशान के समान निर्जन और भयंकर बन गया। महर्षि का जीवन भार बन गया और वे दिन-रात इसी चिन्ता में रहने लगे कि इस दुःखदायिनी परिस्थिति का निवारण किस प्रकार से किया जाय। कई दिनों तक उन्होंने सन्ध्या-पूजा तक बन्द रखी। यही दशा उनकी पत्नी अरुन्धन्ती की भी थी। उन्होंने भी पुत्रों के वियोग में भोजन तथा शयन बन्द कर दिया। इस प्रकार चिन्ता की भयंकर ज्वाला ने मुनि-दम्पति के विवेक को भस्म कर दिया था और उन्होंने भी अपने जीवन को नष्ट कर देने का निश्चय बना लिया था।

एक दिन वसिष्ठ ने अग्नि की लपटों में जलने का उपक्रम किया, सरस्वती की अथाह जल राशि में डूब कर प्राण देने का संकल्प लिया, किन्तु ये दोनों ही उपाय निष्फल रहे। अन्ततः उन्होंने पर्वत शिखर से नीचे गुफा में कूद कर शरीर नष्ट करने का विचार किया, किन्तु दैव योग से उसमें भी उन्हें सफलता नहीं मिली। ईश्वरेच्छावश सर्वत्र से उनका वह तपोमय शरीर सुरक्षित निकला। किन्तु अनेक दिनों के जागरण एवं दुःख के बोझ को सँभालने में वह निरन्तर अशक्त भी होता जा रहा था।

एक दिन सन्ध्या के समय वे अत्यन्त दुखी होकर अपने आश्रम में बैठे थे कि इसी बीच उनके ज्येष्ठ पुत्र की धर्मपत्नी अदृश्यन्ती के करुण स्वर की गूंज उनके कानों में पड़ी। वह अपने पति की वियोगाग्नि में झुलस रही थी और इधर अपने तपोमय श्वसुर तथा सास की दशा देखकर भी उसे कल नहीं मिल रही थी। वह गर्भवती थी। भूख-प्यास तथा दुश्चिन्ता के इस असह्य बोझ को सँभालना उसके लिए भी कठिन हो रहा था। निदान श्वसुर के समीप पहुँच कर उसने दूर से ही उन्हें दण्डवत् प्रणिपात किया और करुणा तथा आसुओं के आवेग से बोझिल स्वर में बोला—

'पूज्य तात! आप की गंभीर चिन्ता और विह्वलता की यह दयनीय स्थिति अब मुझसे नहीं देखी जा रही है। यदि आप के पौत्र की रक्षा का भार मेरे शरीर पर न होता तो अब तक मैं अपना 'अदृश्यन्ती' नाम चरितार्थ कर चुकी होती। मेरे समान अभागिन इस संसार में दूसरी कौन स्त्री होगी, जिस पर विपदाओं का यह दुःसह बोझ आ गिरा हो। महर्षे! मेरा शरीर अब अधिक शिथिल हो रहा है। स्वप्न में या जागरण में मुझे कोई अन्तर ही नहीं दिखाई पड़ता। यह सारी धरती मेरे लिए नरक के समान दिखाई पड़ रही है। किन्तु मुझे अपने अन्तरतम से अपने पूज्य पति देव की आवाज सुनाई पड़ती है, उसी को लेकर मैं जीवन आशा लगाए हुए हूँ। किन्तु अब शरीर काम नहीं दे रहा है, न चला जाता है, न बैठे रहा जाता है।' इस वाक्य को पूरा करते ही शक्ति की पत्नी अदृश्यन्ती अचेत होकर वसिष्ठ के आगे गिर पड़ी। कई दिनों के निराहार एवं चिन्तित शरीर में अपने को संभालने की शक्ति नहीं रह गई थी।

महर्षि वसिष्ठ ने अपनी पुत्रवधू अदृश्यन्ती की यह दीन दशा देखी तो उठकर दौड़ पड़े। उन्हें उसके गर्भवती होने की बात अभी तक ज्ञात नहीं थी। चारों ओर से अन्धकार पूर्ण और निराश जीवन में आशा की इस मनोहर रश्मि को

देखकर वे जीवन के प्रति साकांक्ष हो गए। अनन्त करुणा से उद्वेलित अपने हृदय को वह वश में नहीं रख सके। कई दिनों के अनाहार और कष्टों से पीडित अदृश्यन्ती के पीले मच्छित शरीर को उन्होने होश में लाने का उपचार किया। शीतल जल के शीकरों से प्रबुद्ध करके उसे वे अपनी कुटी की ओर लेकर चल पड़े और उसकी परिचर्या तथा शुश्रूषा के उचित साधन जुटाए। निराशा और नीर-सता से भरे जीवन में उन्हें एक रस मिलने लगा और धीरे धीरे उन्होंने अपनी दैनिक चर्या का अबाध क्रम पुनः आरम्भ करने का निश्चय किया।

महर्षि बसिष्ठ के कुटी की ओर अग्रसर होते ही वहीं मध्य मार्ग में पिशाचराजा कल्मापपाद लेटा हुआ दिखाई पड़ा। वसिष्ठ और अदृश्यन्ती के पद-चाप को सुनकर वह उठ खड़ा हुआ और अपने भयंकर मुख को विकृत कर के उन्हें खाने के लिए दौड़ पड़ा। यह भीषण दृश्य देखकर अदृश्यन्ती विह्वल हो गई और झटपट आँखें मूँदकर नीचे धरती पर बैठ गई। अदृश्यन्ता की यह दशा देखकर महर्षि वसिष्ठ ने उसे सँभाला और धीर-गंभार स्वर में उस पिशाच राजा को धमकी देते हुए वह बोले—

'नरपिशाच! तू ने अपने दुष्कर्मों से अपना सहस्रों जन्म बिगाड़ डाला है। तू यह नहीं समझ रहा है कि तू कौन है और अब क्या कर रहा है। खबरदार। खड़ा हो जा। यदि एक पग भी आगे बढ़ा तो भस्म हो जाएगा।'

कल्माषपाद विकम्पित हो गया। महर्षि की तेजस्वी वाणी उसे भीषण अग्नि की ज्वाला के समान दग्ध करने लगी। वह काँपते हुए स्वर में बोला—'ब्राह्मण! मैं अयोध्या का राजा कल्माषपाद हूँ, तुम्हारे पुत्र शक्ति ने मुझे राक्षस होने का भयंकर शाप देकर जो भूल की थी उसी का कुफल मैं भोग रहा हूँ और उसी का कुफल तुम भी भोग रहे हो। मैंने संकल्प किया है कि जब तक शक्ति का समूल विध्वंश

नहीं कर लूंगा तब तक विश्राम नहीं लूंगा। मैं कई दिनों से शक्ति के भावी पुत्र को खाने की चिन्ता में लगा था, किन्तु संयोग नहीं लग रहा था। आज माता समेत उसका भक्षण कर मैं अपनी चिन्ता दूर करूँगा। तुम मेरे गुरु रहे हो, इसी कारण से मैं तुम्हें छोड़ देता हूँ, किन्तु अब शक्ति की गर्भवती पत्नी को छोड़ देना मेरे लिए संभव नहीं है।'

कल्माषपाद की ये बातें सुनकर महर्षि वसिष्ठ करुणा से भींग गए। उन्होंने सोचा अयोध्या के इस दानशील राजा ने वसिष्ठ का अनेक बार सम्मान किया था, चरणों की धूल लेकर मस्तक पर लगाया था, आरती की थी, पूजा की थी और प्रचुर दक्षिणाएँ दी थीं। अनेक वृहद् यज्ञों एवं मांगलिक अनुष्टानों का विधिवत समारोह किया था। आज उसकी यह दुर्दशा सचमुच शक्ति के शाप के कारण ही हो रही थी। निश्चय ही शक्ति ने इसे शाप देकर ब्राह्मणोचित कर्म नहीं किया था। शक्ति की इसी दुर्बुद्धि के कारण ही हमारे कुल का विनाश हुआ है। राजा की इस करुणाजनक दशा पर हमारा क्रोध उचित नहीं है। मैं इसका कुलगुरु हूँ, अतः इसके योगक्षेम की चिन्ता भी तो मेरे ही ऊपर है।

किन्तु उन्हें अधिक सोचने का अवकाश नहीं था। महर्षि ने अपनी अमोघ करुणा से कल्माषपाद में बची-खुची कोमल भावनाओं का संस्पर्श करते हुए धीर-गम्भीर स्वर में कहा—'राजन्! तुम्हारी इस विपन्नावस्था का मुझे हार्दिक खेद है। तुम्हारी इस दुर्गति का कारण सचमुच मेरा पुत्र शक्ति ही है। उसने अविवेक और शीघ्रता में जो कुछ किया उसका कुपरिणाम उसे भोगना पड़ा। किन्तु मैं तो तुम्हारे शेष जीवन को सुखी बनाना चाहता हूँ।'

महर्षि वसिष्ठ की इस मार्मिक तथा निश्छल वाणी ने कल्माषपाद के पिशाच को किंचित् तुष्ट दिया। उसने अनुताप के स्वर में कहा—'महामुन! आपकी इस कृपा के लिए मैं आजन्म ऋणी रहूँगा। मैंने जो कुछ पापकर्म किए हैं, उनकी मुझे भी हार्दिक ग्लानि है। किन्तु मैं क्या करता, मुझे स्वयं यह नहीं ज्ञात था कि मैं क्या कर रहा हूँ।'

कल्माषपाद की रक्तिम आँखों से अनुताप की आँसुओं के विन्दु नीचे की ओर ढुलक रहे थे। महर्षि ने उसे सन्त्वना देते हुए पुनः कहा—'वत्स! मैं तुम्हारे जीवन को शान्त और सुखी बनाने का उपाय करता हूँ, अब तुम चुपचाप वहीं खड़े रहो।'

कल्माषपाद विनम्र भाव से खड़ा हो गया। महर्षि वसिष्ठ ने अपने कमण्डलु के मंत्रपूत जल द्वारा उसका अभिषेचन किया और अपने तपःप्रभाव से उसका शापमोचन करते हुए कहा—'वत्स! तुम्हें इस राक्षसयोनि से मैं छुटकारा दे रहा हूँ। मुझे आशा है, अब तुम्हारा उत्तर जीवन इतना पुण्यमय, तपोमय तथा शान्तिमय होगा कि तुम अपने समस्त पाप कर्मों का स्वयमेव प्रक्षालन कर लोगे।'

कल्माषपाद का शोभन शरीर, जो वर्षों के पैशाचिक कर्मों के अभ्यास से घृणित हो रहा था, मुनिवर वसिष्ठ के इस पुण्याभिषेचन से पवित्र और आकर्षक हो गया। उसके तेजस्वी मुखमण्डल पर पुनः शान्ति की छटा छहरा गई। वाणी में मधुरता तथा विनय की गंभीरता आ गई। हिंसा से जलती हुई आँखों में ग्लानि और अनुताप की शीतलता भर गई। वह एक दण्ड की भाँति महर्षि वसिष्ठ के चरणों पर गिर पड़ा और बड़ी देर तक सिसकता रहा। महर्षि की आँखें भी करुणा से आर्द्र हो गई थीं। उन्होंने अपने पुत्र शक्ति के समान कल्माषपाद को उठाकर अपने गले से लगा लिया और गद्‌गद् वाणी में उपदेश करते हुए कहा—

'वत्स! आज से तुम मेरे पुत्र के समान हो। शक्ति के पापपूर्ण शाप का मोचन करके मैंने तुम्हें अपना बना लिया है। मेरी तपस्या की अखण्डित पुण्यराशि तुम्हारे सभी पापकर्मों को शान्त कर चुकी है। तुम निश्चिन्त होकर अयोध्या चले जाओ और अपनी विलखती प्रजा तथा परिवार को सुखी बनाओ।'

किन्तु कल्माषपाद महर्षि वसिष्ठ की करुणापूर्ण वाणी सुनकर उच्च-स्वर में विलाप करने लगा। पश्चात्ताप की भीषण ज्वाला में वह

दग्ध हो रहा था। वसिष्ठ के ऐसे उपकार की कृतज्ञता को प्रकट करने की शक्ति उसमें नहीं थी। सहस्रों निरपराध ब्राह्मणों की हिंसा को शान्त करने के लिए उसे सहस्रों जन्मों तक जो असह्य यातनाएँ भोगनी पड़तीं, उसकी कल्पना भी अति भयंकर थी। अपने पुत्रों तथा शिष्यों की हत्या करने वाले एक नृशंस हिंसक के प्रति करुणा का यह अगाध स्रोत त्रैलोक्य में कहाँ सुलभ था? वह महर्षि के चरणों से लिपट गया और किसी प्रकार अपने को सँभालते हुए गद्‌गद् कण्ठ में बोला—

'पूज्य गुरुदेव! आपने मुझे शापमोचित कर अपने पुत्र के समान बना लिया—यह मेरे पूर्व जन्मों का पुण्योदय है। मुझ जैसे हतभाग्य और पापी ने आपके पुण्य आश्रम का सर्वथा विध्वंस कर दिया है। आपके सहस्रों सुयोग्य शिष्यों तथा प्राणवत्प्रिय सौ पुत्रों की नृशंस हत्या करके मैंने इसे नरक के समान दुःखदायी बना डाला है। यदि आप सचमुच मुझे अपने पुत्र के समान स्नेह देते हैं तो मेरी प्रार्थना है कि आप मेरे साथ ही अयोध्या चलें और मेरी राजधानी को अपने चरणों से पवित्र करें। आपको संग लिए बिना मैं अयोध्या की ओर चरण भी नहीं उठाऊँगा गुरुदेव! पुत्रों और शिष्यों से विहीन इस आश्रम में मैं आपको क्षण भर के लिए भी नहीं छोड़ सकता। आपके संग शेष परिवार के साथ माता जी तथा तपस्विनी अदृश्यन्ती को भी अयोध्या चलना होगा।'

महर्षि वसिष्ठ कल्माषपाद की निश्छल और पवित्र प्रार्थना को ठुकरा नहीं सके। अपने शेष परिवार को साथ लेकर वे कल्माषपाद के साथ ही अयोध्या चले आए। अयोध्या में ही उन्होंने राजभवन से दूर पावन सरयू के तट पर अपना आश्रम बसाया और सरस्वती के तट पर उनका वह निर्जन आश्रम धीरे-धीरे विनष्ट हो गया। कहते वसिष्ठ के आश्रम की इस विध्वंस लीला और उनके अयोध्या चले जाने के वियोग में पुण्यसलिला सरस्वती सूख गई और उसकी अगाध पावन जल राशि वियोगिनी के आँसू की भाँति धरती में अन्तर्हित हो गई।

पराशर का कोप

विश्वामित्र के षड्यन्त्र से अपने सौ पुत्रों एवं सहस्रों शिष्यों समेत सरस्वती तटवर्ती अपने आश्रम के विध्वंस हो जाने के अनन्तर वसिष्ठ जी अयोध्या चले आये थे। क्योंकि अनुताप की ज्वाला म दग्ध अवध नरेश कल्माषपाद के दुराग्रह को टालना उनके वश में नहीं था। यह कल्माषपाद कोई दूसरे नहीं थे, इन्हीं ने वसिष्ठ के सौ पुत्रों को अकेले मार कर खा डाला था। किन्तु इस दुष्कृत्य में इनका दोष कुछ भी नहीं था। विश्वामित्र की दुरभिसंधि से वसिष्ठ के ज्येष्ठ पुत्र शक्ति ने ही शाप देकर राजा कल्माषपाद को राक्षस बना दिया था। राक्षस बनने पर स्वभावतः कल्माषपाद की बुद्धि विकृत हो गई थी। अपने या पराए हिताहित का तनिक भी ध्यान नहीं था। पागल की भाँति वह नरभक्षी राक्षस बन गए थे और वसिष्ठ के सौ पुत्रों तथा इससे अधिक शिष्यों को मार कर स्वयं उदरस्थ कर चुके थे। अपने पुत्रहन्ता एवं सकुल संहारक के प्रति भी वसिष्ठ जी ने जो सद्व्यवहार एवं प्रेम दिखलाया उसकी चर्चा भूमण्डल भर में फैल गई और सभी लोग उन्हें संसार का अद्वितीय महापुरुष मानने लगे। करुणा और क्षमा का ऐसा उच्चकोटि का उदाहरण पुराणों में कोई दूसरा नहीं मिलता।

राजा कल्माषपाद अपने विगत जीवन के पाप-कर्मों का स्मरण कर दिन-रात अनुताप की भीषण ज्वाला में भस्म होते रहते। उन्हें न भूख रहती न प्यास लगती। अपने गुरु एवं पुरोहित के वंशजों का समूल संहार करने जैसा भयंकर पाप कर के वह अपना अनेक जन्म बिगाड़ चुके थे। विधाता की इस क्रूरता का कोई भी कारण उनकी बुद्धि में नहीं आता था। यद्यपि मुनिवर वसिष्ठ उन्हें दिन-रात समझाते-

बुझाते रहते और नियति की दुर्निवार इच्छा में मनुष्य की विवशता की अनेक पुरानी गाथाएँ सुनाते रहते तथापि कल्माषपाद का हृदय सदैव रोता रहता। अनेक वर्ष इसी प्रकार बीत गए और धीरे-धीरे कल्माषपाद के उस उग्र प्रायश्चित्त ने उसके शरीर को जर्जर कर दिया और एक दिन वह अभागा नृपति इस संसार में अपने दुर्नाम को छोड़कर चल बसा।

कल्माषपाद के अनन्तर भी उनके वंशजों के अत्यधिक अनुरोध से वसिष्ठ जी अयोध्या में ही बने रहे। सरयू के पावन तट पर राजधानी से दूर उनका पावन आश्रम था, जहाँ दो-चार शिष्य भी उनके साथ रहते थे। इनके अतिरिक्त वसिष्ठ के साथ उनकी पत्नी अरुन्धती, ज्येष्ठ पुत्र शक्ति की स्त्री अदृश्यन्ती तथा शक्ति का छोटा पुत्र भी था, जो वसिष्ठ के वंश का एकमात्र अवशेष था। शक्ति का यह छोटा बालक महर्षि वसिष्ठ की सम्पूर्ण साधना और तपस्या की जीवन्त प्रतिमा था। स्वल्प वय में ही उसने समग्र वेद-वेदांगों का अध्ययन पूरा कर लिया था। वसिष्ठ जी ने अपने इस पौत्र का नाम पराशर रखा था।

अपने बाल्य जीवन से ही पराशर महर्षि वसिष्ठ के संग ही रहते थे, अतः उन्हें यही ज्ञात था कि अदृश्यन्ती मेरी माता तथा वसिष्ठ मेरे पिता हैं। आरम्भ में स्वयं महर्षि वसिष्ठ ने ही पराशर को यह रहस्य किसी प्रकार ज्ञात न हो सके—इसका निषेध कर रखा था। उनके आश्रम के सभी लोग पराशर की इस जानकारी में कभी बाधा नहीं डालते थे। किन्तु जब अधिक दिन बीत गए और पराशर विद्या-बुद्धि के क्षेत्र में दिनानुदिन अग्रणी होते गए तब वसिष्ठ को चिन्ता हुई कि अब अधिक दिनों तक पराशर से इस रहस्य को यथापूर्व बनाए रखना अनुचित होगा।

एक दिन पराशर की माता अदृश्यन्ती को बुलाकर महर्षि वसिष्ठ ने सकरुण वाणी में कहा—

'बेटी ! पराशर अब बड़ा हो गया है, उसकी प्रखर विद्या और बुद्धि को देखते हुए यह अनुचित प्रतीत होता है कि वह अब आगे भी मुझे पिता के रूप में समझता रहे। उसे यथार्थ की जानकारी दे देना ही उचित होगा, क्योंकि अधिक विलंब होने पर इस छोटी-सी बात के भयंकर परिणाम हो सकते हैं।'

अदृश्यन्ती का कोमल हृदय उमड़ आया। अपने स्वर्गीय पति का स्मरण कर वह विचलित हो उठी। आँखें भर आईं और वाणी गद्‌गद हो गई। थोड़ी देर तक अपने को सँभाल कर वह विनम्र स्वर में बोली—

'पूज्य तात ! मैं तो बहुत पहले ही यह रहस्य पराशर को बता देना चाहती थी किन्तु आपके निषेध के कारण ही मैंने इसे गोपनीय बनाए रखा।'

बसिष्ठ बोले—'बेटी ! उस समय पराशर बहुत छोटा था। बालक के कोमल हृदय में पिता की नृशंस हत्या का दुःसंवाद अनेक कुसंस्कारों का जनक बन सकता था। उस समय संभव था, पराशर के हृदय में कोई कठोर प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती और वह स्वाध्याय से मुख मोड़ कर पिता का बदला चुकाने में ही अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने लगता। क्योंकि पराशर का स्वभाव ऐसा ही है। वह जिस कार्य के पीछे पड़ता है, उसे पूरा किए बिना विरत नहीं होता। अतः इतने दिनों तक उस रहस्य को छिपाए रखना ठीक ही हुआ।'

अदृश्यन्ती खुल पड़ी। बोली—'तात ! विगत में वह मुझ से बार-बार यह पूछता ही रहता था कि माँ ! मेरे पिता जी क्यों इतने वृद्ध हो गए हैं। मेरे सभी सहपाठियों के पिता अभी प्रौढ़ हैं। उनके बाल नहीं पके हैं, दाँत नहीं टूटे हैं तब फिर मेरे ही पिता क्यों इतने बूढ़े हो गए हैं जब कि तुम्हारा भी बाल अभी पका नहीं है और दाँत भी सुन्दर बने हुए हैं।'

'तब फिर तुमने क्या बताया'—बसिष्ठ जी ने उत्सुकता से पूछा।

अदृश्यन्ती बोली—'क्या बताती ! उसे दूसरी बातों में लगाने का प्रयत्न करती अथवा उस क्षण वहाँ से उठ कर कहीं चली जाती।' अदृश्यन्ती की आँखें लाल हो चुकी थीं और उसका मुख आँसुओं की धारा से भींग गया था।

वसिष्ठ कुछ क्षण चुप रहे। फिर बोले—'बेटी! पराशर में विलक्षण प्रतिभा है, वह दृढ़ निश्चयी है। किन्तु अब वह अवसर आ गया है जब उसे मेरे तथा उसके पिता के सम्बन्ध में सारी बातें यथातथ्य बता देने में ही सब का कल्याण है।'

अदृश्यन्ती ने अपने श्वसुर वसिष्ठ की आज्ञा को स्वीकार किया और उसी दिन जब पराशर उससे किसी कार्य के सम्बन्ध में अपने कथित पिता वसिष्ठ से परामर्श लेने की बात कर रहा था कि अदृश्यन्ती अकस्मात् सिसक कर रो उठी। पराशर के सम्मुख अदृश्यन्ती के ये प्रथम अश्रु-निपात थे। वह कियत्क्षणों तक अवसन्न रह कर चुप चाप खड़ा रहा किन्तु अधिक देर तक चुप रहना उसके वश में नहीं था। वह चिन्ता तथा व्यग्रता के बोझ से विह्वल स्वर में बोला—

—'मेरी माँ! तुम्हारे इस अकारण रुदन को देखकर मैं विचलित हो गया हूँ। तुम शीघ्र ही बताओ कि तुम पर कौन-सी विपत्ति आ गई है। मैं समझता हूँ कि तुम्हारे समान भाग्यशालिनी माँ को रोने का कोई प्रयोजन नहीं है। जिसका सर्वशक्तिसम्पन्न वसिष्ठ के समान पति हो उसे अकारण रोने का अवसर क्यों आ पड़ा है—यह बात मेरी बुद्धि में नहीं आ रही है। मैं अत्यन्त चिन्तित और व्यग्र हूँ माँ! मुझे अपने रुदन का कारण शीघ्र बताओ। मैं उसे दूर करने का प्रयत्न करूँगा।'

अदृश्यन्ती कुछ क्षणों तक अपने आप को वश में करती रही। फिर सँभलकर बोली—'मेरे वत्स! तुम्हें ज्ञात नहीं है कि मुझ जैसी हतभागिनी स्त्री इस संसार में बहुत कम होंगी। इतने दिनों तक अपने

आंसुओं को मैं तुम्हारे सम्मुख इसलिए नहीं गिराती रही कि तुझे वेदना होगी, किन्तु आज तो मैं तुझसे सब कुछ बता ही दूँगी।'

पराशर बीच में ही बोल पड़े, अधिक देर तक प्रतीक्षा करना कठिन था। 'मेरी माँ! मुझे तुम शीघ्र बताओ कि तुम पर क्या विपत्ति आ पड़ी है और तुम अपने को परम हतभागिनी क्यों बता रही हो?'

अदृश्यन्ती ने कहा—'मेरे वत्स! महर्षि वसिष्ठ, जिन्हें तुम अपना पिता समझते रहे हो, वे तुम्हारे पितामह और मेरे श्वसुर हैं।'

पराशर बोले—'माँ! तो मेरे पिता कहाँ गए हैं और उनका नाम क्या है? इतने दिनों तक तुमने इस बात को मुझसे छिपाकर क्यो रखा माँ। मैंने तो तुमसे कई बार इसके बारे में शंका प्रकट की थी न?'

अदृश्यन्ती सिसकने लगी। आन्तरिक वेदना के असह्य बोझ को सँभालना स्त्रियों के वश में नहीं होता। वह करुण स्वर में बोली—'बेटा! तुम्हारे पिता महर्षि वसिष्ठ के ज्येष्ठ पुत्र शक्ति थे। उनका शरीरावसान हो गया है। इतने दिनों तक मैंने जो यह रहस्य तुम से नहीं बताया वह बताने योग्य है भी नहीं। वत्स! उसे जान कर भी अब तुम क्या करोगे।'

पराशर बोले—'माँ! मैं उस रहस्य को जाने विना अन्न-जल नहीं ग्रहण करूँगा। आज तो तुझे वह सारा रहस्य मुझसे बताना ही पड़ेगा।'

अदृश्यन्ती चुप रही। वह इसी उधेड़ बुन में थी कि किस प्रकार पराशर से शक्ति की हत्या का संवाद बताया जाय, क्योंकि इस विकराल दुर्घटना को सहन करना उसके लिए कठिन होगा। इसी बीच महर्षि वसिष्ठ की पत्नी अरुन्धती भी अदृश्यन्ती के समीप आकर खड़ी हो गईं और आते ही उन्होंने समझ लिया कि अवश्य ही कोई न कोई दुर्घटना घटित हो चुकी है। क्योंकि अदृश्यन्ती की

अश्रुधारा अविरल गति से नीचे की ओर जा रही है और उधर पराशर की मुख-मुद्रा अत्यन्त करुण तथा दीन बन गई है।

अरुन्धती ने परिस्थिति को सँभालते हुए कहा—'बेटा पराशर! क्या बात है जो तुम आज इतने उदास तथा दुःखी दिखाई पड़ रहे हो। और अदृश्यन्ती के इस रुदन का क्या कारण है?'

पराशर ने अरुन्धती को सारी बातें बता कर उत्सुकता के स्वर में पूछा—'मान्ये! मैं अपने पूज्य पिता शक्ति की मृत्यु के सम्बन्ध में सारी बातें जानना चाहता हूँ। बिना यह रहस्य जाने हुए मुझे क्षण भर के लिए भी सुख नहीं है। मुझे दुःख इसी बात का है कि इतने दिनों तक यह घटना मुझसे क्यों छिपाई गई।'

अपने ज्येष्ठ पुत्र शक्ति की मृत्यु की चर्चा ने अरुन्धती के शान्त मानस में वाडवाग्नि के समान दुःखों की भीषण ज्वाला जला दी। अपने सौ पुत्रों, पुत्रबधुओं तथा शिष्यों आदि से भरे पुरे अपने उस अतीत जीवन के मधुर क्षण उन्हें याद आए, जो स्वर्ग में भी दुलर्भ थे। ज्ञान तथा अनुभव से परिपक्व होने पर भी अरुन्धती अपने को रोक नहीं सकीं। 'हा पुत्र! हा पुत्र!' कह कर वह भी दहाड़ मार कर धरती पर गिर पड़ीं और थोड़ी देर के लिए मूर्च्छित-सी हो गईं। उनकी यह दशा देखकर अदृश्यन्ती का अधीर शोक-प्रवाह भी द्विगुणित वेग से बाहर निकल पड़ा, फिर तो महर्षि वसिष्ठ का वह शान्त आश्रम अनेक वर्षों के अनन्तर भीषण हाहाकार और करुण क्रन्दन का केन्द्र बन गया।

पराशर बड़ी देर तक अपनी माता तथा पितामही की परिचर्या में लगे रहे। कुछ क्षण बाद आश्वस्त होकर अरुन्धती ने अपने अन्य निन्यानबे पुत्रों-समेत पराशर के पिता शक्ति की नृशंस हत्या का दुःसंवाद पराशर से कह सुनाया। किन्तु उन्होंने जान बूझ कर भी इस हत्याकाण्ड में विश्वामित्र और वसिष्ठ के बीच अतीत में होने वाले

संघर्षों तथा अयोध्यानरेश कल्माषपाद की क्रूर करतूतों की चर्चा नहीं की। उन्होंने केवल इतना ही बताया—

'वत्स ! तुम्हारे पिता शक्ति मेरे ज्येष्ठ पुत्र थे। वे तुम्हारे पितामह के समान ही अगाध विद्या तथा प्रखर प्रतिभा सम्पन्न युवक थे। तुम्हारे ही समान उनका भी शरीर परम सुन्दर, स्वस्थ तथा बलवान् था। उनसे छोटे मेरे निन्यानबे पुत्र और थे। मैं सौ योग्य पुत्रों की माँ थी बेटा ! किन्तु हाय दुर्भाग्य ! एक दुर्दान्त राक्षस ने तुम्हारे पिता समेत मेरे सभी पुत्रों को खा डाला। और मैं हतभागिनी उन सबके शोक के भार को ढोती हुई आज भी जीवित हूँ।'

अरुन्धती की बातें सुनते ही पराशर की भृकुटी चढ़ गई। नथुने फड़कने लगे और दीर्घायत नेत्रों में क्रोध की रक्त रेखाएँ स्पष्ट उभड़ आईं। उनकी वाणी शुष्क हो गई और इन्द्रियों समेत सारा शरीर उत्तप्त हो गया। कुछ क्षण तक अपने को सँभालने के बाद वह रूक्ष स्वर में बोले—

'मान्य आर्ये ! मैं इस चराचर जगत् का विध्वंस कर अपने पूज्य पिता तथा पितृव्यों के वध का बदला चुकाऊँगा। जिस संसार में ऐसे दुर्दान्त और अविवेकी राक्षस निवास करते हों वह रहने योग्य कदापि नहीं है। मैं इसे अभी भस्म करता हूँ।'

पराशर में ब्रह्मवर्चस् की अखण्ड तेजस्विता थी। विकट साधना और तपस्या से उनकी वाणी में सत्य का निवास था। उनमें दृढ़ संकल्प शक्ति थी, और वैसी ही अमोघ मंत्र-शक्ति को भी उन्होंने स्वायत्त कर रखा था। निदान, उनके मुख से 'भस्म' शब्द का उच्चारण होते ही धरती हिल गई, सरयू की जलराशि उसके दोनों तटों पर फैल गई, और अयोध्या के नागरिकों ने समझा कि भयंकर भूकम्प आ गया है। बिना बादलों के ही आकाश में भयंकर ध्वनि सुनाई पड़ने लगी और दिशाएँ धूमिल हो गईं। त्रिकालदर्शी महर्षि वसिष्ठ

से यह अकाण्ड ताण्डव छिपा नहीं रह सका, उस समय वह अपने अन्तेवासियों को पढ़ा रहे थे। वहाँ से तुरन्त उठ कर वह पराशर की ओर द्रुतगति से चल पड़े। और वहाँ पहुँच कर उन्होंने देखा कि पराशर की आँखें क्रोध से जल रही हैं और उनके परम विभासित मुख मण्डल की आभा अत्यन्त विकृत हो गई है।

वसिष्ठ को समुपस्थित देख कर पराशर किंचित् प्रकृतिस्थ हुए और बड़े वेग से चलकर उन्होंने वसिष्ठ के चरणों में दण्डवत् प्रणिपात किया। वसिष्ठ ने पराशर को उठाकर छाती से लगा लिया और आश्वासन भरी वाणी में अभिनन्दन करते हुए कहा—'वत्स! तुम्हारे विकराल कोप ने सृष्टि के क्रम को उलट-पुलट दिया है। समस्त भूलोकवासी चिन्तित हो उठे हैं। वन्य जीव-जन्तुओं में भी हाहाकार मचा हुआ है। ऐसा भयंकर क्रोध ब्राह्मण को शोभा नहीं देता वत्स! इसे दूर करो और सृष्टि की रक्षा करो। सृष्टि का कल्याण ही ब्राह्मण का परम धर्म है।'

पराशर कुछ हतप्रभ हो चुके थे। कुछ देर तक चुप रह कर बोले—'पूज्य तात! मैं ऐसी सृष्टि का विनाश कर देना चाहता हूँ जिसने मेरे पिता तथा पितृव्यों का विनाश चुपचाप सहन कर लिया। ऐसे भयंकर अत्याचार को सहन कर लेने वाली सृष्टि से कोई लाभ नहीं है।'

वसिष्ठ ने पराशर का क्रोध शान्त करने की चेष्टा की। बोले—'वत्स! इसी सृष्टि में तुम्हारी माता, पितामही, मैं तथा तुम—सब निवास करते हैं। क्या तुमने यह भी सोचा है कि उसका विनाश कर देने पर हम सब की क्या दशा होगी? क्रोध साधना और तपस्या का विनाशक है वत्स! तुम ब्राह्मण हो, विद्वान हो, मंत्रदृष्टा हो, ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुके हो। फिर अज्ञों जैसी इस क्रोध-प्रवृत्ति को नियंत्रित करने में ही तुम्हारी शोभा है। तुम्हारे पिता और पितृव्य अब तुम्हारे इस क्रोध से वापस नहीं लौटेंगे। उनका जैसा प्रारब्ध

था, वैसा उन्होंने भोगा। इसमें किसी का दोष नहीं है! मनुष्य अपने ही कर्मों का फल भोगता है। जिस क्रोध-प्रवृत्ति ने उनका विनाश किया, उसी का आश्रय लेकर चलने में तुम्हारा भी अकल्याण है वत्स! उसका त्याग कर क्षमा को अंगीकार करो, जो समस्त विश्व के कल्याण की जननी है।'

पराशर का क्रोध यद्यपि बहुत कुछ शान्त हो गया था तथापि वे राक्षस जाति पर अब भी अत्यन्त क्रुद्ध थे। अपने पूज्य पिता तथा पितृव्यों का विनाश करने वाले राक्षस की जाति का समूल उच्छेद किए विना उन्हें कल नहीं थी। वसिष्ठ के बहुत समझाने बुझाने पर भी उनका प्रवृद्ध अमर्ष शान्त नहीं हुआ। सृष्टि का विनाश करने की प्रतिज्ञा छोड़ कर अब वे राक्षस के समूल विनाश की प्रतिज्ञा पूरी करने में तन-मन से लग गए।

× × ×

वह यज्ञों का युग था। ऐहिक तथा पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति उन दिनों यज्ञों द्वारा ही होती थी। पराशर ने भी राक्षसों के सकुल संहार के लिए यज्ञ का ही सहारा लिया। उन्होंने एक ऐसे वृहत् यज्ञ का अनुष्ठान आरम्भ किया, जैसा यज्ञ संसार में अभी तक कहीं नहीं हुआ था। यही नहीं, उनके पूर्व ऐसे यज्ञ की परम्परा भी नहीं थी। क्योंकि यज्ञों द्वारा जीव मात्र के कल्याण की ही चिन्ता की जाती थी, किसी के विनाश के उद्देश्य से यज्ञ करना यज्ञ की पावन-परम्परा को दूषित करना था। जब महर्षि वसिष्ठ को पराशर के इस निश्चय का पता लगा तो वे बहुत दुःखी हुए किन्तु बार-बार पराशर को उनके निश्चयों से डिगाकर उन्हें दुःखी बनाना भी वसिष्ठ को इष्ट नहीं था।

पराशर ने सरयू के पावन तट प्रदेश पर अपने इस विशाल यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें भू-मण्डल के सभी चुने हुए विद्वान ऋषि-मुनि गण बुलाए गए। विशाल यज्ञ मण्डप के मध्य भाग में

तीन भयंकर अग्नि कुण्ड सजाए गए, जिनमें अपार काष्ठ संचित किए गए थे। जब मंत्रों के सस्वर उच्चारण के साथ इन तीनों कुण्डों में अग्नि की प्रतिष्ठा की गई तो समस्त गगन मण्डल रक्त वर्ण का हो उठा। समस्त भू-मण्डल हिल गया और अग्नि की विकराल ज्वालाओं से दिगन्त काँप उठा। पराशर के बनाए गए मंत्र से जब प्रथम आहुति डाली गई तो यज्ञ मण्डप विकम्पित हो गया और समुपस्थित ऋषियों-मुनियों के देखते-देखते एक समीपवर्ती विकराल राक्षस उस कुण्ड में आकर जलने लगा। फिर क्या था, पुरोहितों ने मंत्रों का उच्चारण करते हुए और आहुतियाँ साथ-साथ देना शुरू कर दिया और उन आहुतियों के कुण्ड में पड़ते ही भू-मण्डल के कोने-कोने से राक्षसों के समूह आ कर उनमें गिरने लगे। वे गिरते ही भस्म बन जाते थे। न तो कुछ बोल पाते थे और न उनके शरीर के जलने से यज्ञ में दुर्गन्ध ही होती थी। जंगल, पहाड़, नदी, नद, गुफा, पाताल—जहाँ कहीं राक्षस योनि के जीव थे, वे आ-आकर पराशर के इस विकराल यज्ञ में भस्म होने लगे। कोटि प्रयत्नों के बाद भी उनकी रक्षा करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं थी।

इस प्रकार पराशर के इस विकराल यज्ञ को निर्बाध रूप से चलते हुए जब सात दिन बीत गए तो समस्त भूमण्डल राक्षसों के हाहाकार से व्याप्त हो गया। जो बलशाली राक्षस थे वे अब तक देवताओं आदि की शरण में जा-जा कर किसी न किसी प्रकार से अपनी प्राण-रक्षा करते जा रहे थे किन्तु जब पराशर को यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने पूर्व की अपेक्षा अधिक शक्तिमान मंत्र का निर्माण किया, जिसके द्वारा आहुति डालने पर किसी देवता में भी किसी राक्षस की रक्षा करने की शक्ति नहीं रह गई। इस मंत्र में ऐसी अमोघ शक्ति थी कि यदि किसी राक्षस को कोई देवता पकड़ कर बैठा रहता था तो वह भी राक्षस के संग यज्ञकुण्ड की ओर खींच लिया जाता था।

राक्षसों की यह विनाशलीला जब चरम सीमा पर पहुँच गई और

उनके समूल विध्वंस का भय उपस्थित हो गया तो कुछ बचे खुचे राक्षसनेता अपने परदादा पुलस्त्य ऋषि की शरण में पहुँचे। पुलस्त्य ब्राह्मण ऋषि थे, किन्तु उनके वंशज राक्षस थे। पुलस्त्य की शरण में पहुँच कर राक्षसों ने अपनी रक्षा की प्रार्थना की।

अपने वंशजों के इस समूल विनाश को देखकर महर्षि पुलस्त्य भी विचलित हो उठे, और तुरन्त ही पुलह, क्रतु और महाक्रतु प्रभृति राक्षसों के संग अपने आश्रम से चलकर पराशर की यज्ञशाला में पहुँच गए। पराशर उस समय अपने पुरोहितों के साथ किसी नूतन मंत्र के निर्माण की चिन्ता में थे, क्योंकि उन्हें ज्ञात हो गया था कि पुलह, क्रतु, महाक्रतुप्रभृति कुछ प्रमुख राक्षस इधर उधर भाग-भाग कर अपनी प्राण-रक्षा करने में सफल हो रहे हैं। पुलस्त्य के पहुँचते ही पराशर ने पुरोहितों के संग आगे बढ़कर उनका उचित स्वागत-समादर किया और उनके इस अप्रत्याशित आगमन पर हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—

'महामुने! आप के शुभागमन से मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है, मेरे इस यज्ञ की पुर्णाहुति के मांगलिक अवसर पर आपकी उपस्थिति ही उसकी सफलता की सूचना दे रही है। मैं अपने को धन्य समझ रहा हूँ। मेरे योग्य यदि कोई सेवा हो तो मुझे अनुगृहीत करें।'

पराशर के यज्ञ कुण्डों की विकरालता देखकर पुलस्त्य के संग आने वाले छद्मवेशी पुलह, क्रतु एवं महाक्रतु आदि का शरीर काँप रहा था। थोड़ी देरतक पुलस्त्य भी उस भयंकर यज्ञशाला को देखकर स्तम्भित खड़े रहे। फिर बोले—

'आयुष्मन्! आप का यह भयंकर यज्ञ त्रैलोक्य को विकम्पित कर रहा है। इसके भय से राक्षस ही नहीं देवगण भी चिन्तित हो रहे हैं। मेरा अनुरोध है कि अब आप इसकी पूर्णाहुति कर दें, जिससे चराचर जगत का कल्याण हो। यज्ञों का विधान जीवमात्र की करुणा

और कल्याण कामना से ही हुआ है किन्तु आप के इस यज्ञ का विधान राक्षसों के विनाश से सम्बन्ध रखता है। मैं समझता हूँ यह परम्परा उत्तरकाल में मानव जाति का अकल्याण कर सकती है क्योंकि फिर तो बाद में आने वाली पीढ़ी भी अपने शत्रुओं का विनाश करने के लिए यज्ञों का सहारा लेने लगेगी।

आप मंत्रद्रष्टा हैं, वेद वेदाङ्गों समेत समस्त विद्याएँ अधिगत कर चुके हैं, तपस्या और साधना के महत्त्वों से परिचित हैं, फिर ऐसे अकल्याणकारी मार्ग में प्रवृत्त होने की प्रेरणा आप को कहाँ से मिली—इस पर मुझे आश्चर्य और खेद है। राक्षसों ने आपका क्या अपकार किया है जो इस प्रकार के भयंकर यज्ञ का अनुष्ठान आप कर रहे हैं। महर्षि वसिष्ठ जैसे तत्त्वज्ञानी के पौत्र होकर संसार के कल्याण कारी कार्यों में अपनी तपःशक्ति का उपयोग आप को करना चाहिए। अपनी उत्कट साधना, विद्या और तपस्या द्वारा किसी के अकल्याण की कामना करना आप जैसे मनीषी के लिए अत्यन्त अनुचित है।'

पराशर को महर्षि पुलस्त्य की इन बातों में कुछ तथ्य दिखाई पड़ा, किन्तु उनका हृदय अपने पिता की नृशंस-हत्या के कारण अब भी जल रहा था। वह विस्फारित नेत्रों से पुलस्त्य की ओर देखते हुए सरोष बोल पड़े—

'महर्षे! अपने पूज्य पिता एवं पितृव्यों की नृशंस हत्या करने वाले राक्षसों का समूल विधवंस करना मेरा परम धर्म है। आप का कथन सत्य हो सकता है किन्तु मैं विवश हूँ। राक्षसों ने मेरे पिता एवं पितृव्यों का जिस प्रकार से समूल विनाश किया है, वह संसार में अपने ढंग की अद्वितीय घटना है। उन आततायियों का समूल नाश किए विना मैं अपनी समस्त विद्या, साधना और तपस्या को निष्फल मानता हूँ। आप कुछ भी कहें किन्तु मैं अपने इस कठोर कर्म से पराङ्मुख नहीं हो सकता।'

महर्षि पुलस्त्य ने देखा कि पराशर का मुख क्रोध से रक्तवर्ण का

हो गया है, उनके ओंठ फड़क रहे हैं, नासिका से दीर्घ उच्छ्वास निकल रहे हैं और आंखों में अंगारों के समान लाली दौड़ गई है। अपने पिता की नृशंस हत्या के स्मरण से वे अपना निजस्व खो बैठे हैं। थोड़ी देर तक पुलस्त्य चुप रहे फिर आश्वासन भरे स्वर में बोले—

'वत्स पराशर! अपने पूज्य पिता की हत्या के सम्बन्ध में आप को पूरी जानकारी नहीं है। यह सत्य है कि किसी राक्षस ने ही उनका तथा उनके निन्यानबे भाइयों का वध किया है, किन्तु यह भी सत्य है कि वह राक्षस नहीं था। राक्षस योनि से उसका कोई सम्बन्ध भी नहीं था। आपके पितामह महर्षि वसिष्ठ के प्रतिस्पर्धी विश्वामित्र के षड्यन्त्र से उन सब का विनाश हुआ है। जिस राक्षस ने उनका वध किया था, उसकी रक्षा तो स्वयं आपके पितामह ने ही बाद में की है। बिना पूरी बातों की जानकारी प्राप्त किए ही राक्षस जाति मात्र पर आप का यह क्रोध करना अत्यन्त अनुचित है, ऋषियों-मुनियों की मर्यादा का विनाश करने वाला है और इसके द्वारा आप के उभयलोक निन्दनीय हो जायंगे। मेरा अनुरोध है कि आप अपने इस क्रूर निश्चय से विरत हो जायँ।'

महर्षि पुलस्त्य की मर्मभरी वाणी ने पराशर को प्रतिहत कर दिया। वे कियत्क्षण चिन्ताग्रस्त मुद्रा में कुछ सोच ही रहे थे कि महर्षि वसिष्ठ भी वहाँ आ पहुँचे। महर्षि वसिष्ठ के आते ही सब लोग ससम्भ्रम खड़े हो गए और महर्षि पुलस्त्य ने आगे बढ़ कर उनका स्वागत किया। अपने आश्रम में महर्षि पुलस्त्य के शुभागमन पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए वसिष्ठ जी ने कहा—

'महर्षे! आप का शुभागमन हमारे लिए मंगलदायी है। बिना किसी पूर्ण सूचना के आप के इस आगमन का कुछ विशेष हेतु हो सकता है। मैं अनुमान करता हूँ कि आप पराशर के इस विनाश-कारी यज्ञ के सम्बन्ध में ही कुछ प्रयोजन लेकर आए हुए हैं।'

पुलस्त्य बोले—'ब्रह्मर्षे! आप का अनुमान सत्य है। पराशर के

इस विध्वंसक यज्ञ की विभीषिका से त्रैलोक्य काँप उठा है। मेरे वंशजों का तो समूल विनाश उपस्थित हो गया है। दो-चार को छोड़ कर मेरे सभी वंशधर पराशर की कोपाग्नि में भस्म हो चुके हैं। पराशर के इस अकारण क्रोध के सन्दर्भ की आप ने क्यों उपेक्षा की—यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। क्या आप भी राक्षसों के इस सकुल विनाश को देखकर सन्तुष्ट हैं?'

पुलस्त्य की इस भेदभरी वाणी ने वसिष्ठ को स्तम्भित कर दिया। उन्होने पराशर के इस यज्ञ का ऐसा भयंकर परिणाम स्वयं नहीं सोचा था। किन्तु अब कुछ हो भी नहीं सकता था। पराशर की ओर सामर्ष नेत्रों से देखते हुए वह बोले—

'वत्स पराशर ! महर्षि पुलस्त्य का कथन सत्य है। तुमने अपने इस प्रचण्ड क्रोध से यज्ञों की महनीय मर्यादा को दूषित कर दिया है। मैं तुम्हें पहले ही मना कर रहा था, किन्तु तुमने ध्यान नहीं दिया। तुम्हारे पिता और पितृव्यों की हत्या में राक्षसों का हाथ नहीं था, तुमने पूरी बात की जानकारी लिए बिना ही यह अकाण्ड ताण्डव रच डाला है। मेरा आदेश है कि तुम महर्षि पुलस्त्य की बातों का आदर करो और इस विध्वंसकारी यज्ञ का प्रकरण समाप्त कर दो।'

पराशर से महर्षि पुलस्त्य की भावना छिपी नहीं रह सकी। उन्होंने देखा कि वसिष्ठ की आँखें भरी हुई हैं, वाणी विस्खलित हो गई है, और मुखमण्डल पर स्वेद-विन्दु उमड़ आए हैं। अपने यज्ञीय पुरोहितों तथा आचार्य को यज्ञ की समाप्ति का संकेत कर वह महर्षि पुलस्त्य से अपने अपराध की क्षमा-याचना करते हुए बोले—

'महर्षे। मेरा दुर्विनय क्षमा हो। मैंने अपने पूज्य पिता एवं पितृव्यों की नृशंस हत्या का संवाद बहुत दिनों बाद सुना था। यह रहस्य बहुत दिनों तक मुझसे छिपा कर रखा गया था, अतः ज्यों ही एक राक्षस द्वारा अपने वंशोच्छेद की कथा मुझे सुनाई पड़ी मैंने भी त्वरा में राक्षसों के समूल विध्वंस की प्रतिज्ञा कर ली। मेरा अमर्ष

इतना प्रवृद्ध था कि मुझे पूरी बातों की जानकारी लेने का अवकाश ही नहीं मिला। मैं अनुभव करता हूँ कि इसमें मेरा ही दोष है। अब मैं आप की आज्ञा से अपना यह राक्षस-विध्वंसक-यज्ञ समाप्त करता हूँ। जो राक्षस बच गए हैं, उन्हें अपनी ओर से ही नहीं सब की ओर अभय दान करता हूँ। अब उनका समूल विनाश नहीं होगा।'

पराशर की इस सुखद वाणी को सुनकर पुलह, क्रतु महाक्रतु आदि का भय दूर हो गया। महर्षि पुलस्त्य की आंखें भर आईं, किन्तु उन्होंने पराशर को हृदय से क्षमादान कर दिया। महर्षि वसिष्ठ के संग उनके आश्रम में कई दिनों तक अवस्थान कर वह अपने लोक को वापस चले गए।

किन्तु मध्य में ही समाप्ति कर देने के कारण पराशर के इस यज्ञ में अग्निदेव सन्तुष्ट नहीं हुए थे क्योंकि संकल्पित यज्ञ की समाप्ति हुए बिना उनका परितोष हो भी कैसे सकता था। अतः पराशर के संकेत से जब उनके ऋत्विजों तथा आचार्य ने यज्ञ की समाप्ति का मंत्रपाठ आरम्भ किया तो अग्निदेव ने प्रकट स्वर में उनकी इस विधि का विरोध किया। तब पराशर ने अग्नि की विधिवत् स्तुति कर उन्हें ले जाकर गिरिराज हिमालय के शिखर पर रख दिया, जहाँ वह अब भी कभी-कभी अपनी असन्तुष्ट जिह्वाओं से प्रकट होते हुए दिखाई पड़ते हैं।

इस प्रकार परम प्राचीनकाल में महर्षि पुलस्त्य एवं वसिष्ठ के प्रयत्नों से पराशर द्वारा राक्षसों के समूलाच्छेद का वह भयंकर प्रकरण स्थगित हुआ था।

और्व का तेज

माहिष्मती के राजा कृतवीर्य अपने समय में समस्त भूमण्डल भर में सुप्रसिद्ध थे। उनकी अनुपम शूरवीरता तथा यज्ञपरायणता पृथ्वी के अन्य राजाओं के लिए स्पर्द्धा की वस्तु थी। राजा कृतवीर्य सदैव किसी न किसी यज्ञ में प्रवृत्त रहा करते थे और इस प्रकार अपने संचित कोश को वह वर्ष मे अनेक बार दीन-दुःखियों तथा ब्राह्मणों को बांट देते थे। प्रजावर्ग द्वारा कर रूप में संकलित धन-सम्पति का उपयोग राजा कृतवीर्य अपने लिए कभी भूल कर भी नहीं करते थे। उनकी प्रतिज्ञा थी कि राजा के परिवार तथा निजी व्यय के लिए राज कोश का एक पण भी न व्यय किया जाय।

राजा कृतवीर्य के कुल पुरोहित महर्षि भृगु तथा उनके वंशज थे। महर्षि भृगु प्रजापति ब्रह्मा के पुत्र थे और उनकी तपोनिष्ठा, तेजस्विता तथा सिद्धियों की पुराणों में अत्यधिक चर्चा है। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने भगवान विष्णु की छाती में पाद-प्रहार कर दिया था, किन्तु फिर भी भगवान् विष्णु ने क्रोध नहीं प्रकट किया। इस घटना द्वारा भगवान् विष्णु की अपार कष्टसहिष्णुता तथा क्षमाशीलता का ही परिचय नहीं मिलता प्रत्युत इसमें महर्षि भृगु की प्रखर तेजस्विता तथा निर्भीकता भी मुखरित है। उनमें इतना अदम्य तेज था कि विष्णु जैसे सर्वशक्तिमान परमेश्वर की भी वे कोई परवाह नहीं करते थे।

राजा कृतवीर्य के अनन्तर उनके वंशजों ने उनकी यज्ञ एवं दान-परम्पराओं को यथाशक्ति सुरक्षित रखा। वर्ष भर में जिन-जिन यज्ञ एवं दान के संदर्भों की स्थापना राजा कृतवीर्य ने की थी, उन्हें उनके पुत्रों तथा पौत्रों ने भी यथापूर्व जारी रखा। इसका परिणाम यह

हुआ कि धीरे-धीरे कृतवीर्य वंश के कुल पुरोहित महर्षि भृगु के वंशज प्रचुर धन धान्य से निर्विण्ण होते गये और उधर राजवंश में परिवार वृद्धि के कारण सदैव धन-सम्पत्ति का अभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। यह वैषम्य शनैः शनैः इतना बढ़ गया कि महर्षि भृगु के वंशजों में ब्राह्मणोचित विद्या, तपस्या, साधना एवं सन्तोष का ह्रास होने लगा। ये लोग अब आराम का जीवन यापन करने लगे और धन-सम्पत्ति के मोहक वैभव में लिप्त होकर प्रमादी बन गए। उनके बीच से सत्कर्मों की परम्पराएँ लुप्त होने लगीं, और धीरे धीरे ऐसी स्थिति आ गई कि उनमें अपने पूर्वजों के पौरोहित्य कर्म के प्रति भी अरुचि-सी उत्पन्न हो गई। यज्ञों में दान-दक्षिणा के अवसरों पर वे भले ही उपस्थित हो जाते परन्तु मुख्य कर्मों में अपने स्थान पर अपने प्रतिनिधियों को भेजने लगे।

अपने पुरोहितों की इस प्रमादी मनोवृत्ति का कुप्रभाव कृतवीर्य के वंशजों पर पड़े बिना नहीं रहा। जहाँ गुरुओ और पुरोहितों के सम्बन्ध में कोई निन्दात्मक चर्चा करना किसी भी सद्गृहस्थ के लिए अनुचित था वहाँ धीरे धीरे भृगुवंशियों के इस प्रमाद और परिग्रही मनोवृत्ति की राजवंश में स्पष्ट शब्दों में आलोचनाएँ होने लगीं। उनके प्रति सम्मान की भावना धीरे-धीरे लुप्त होने लगी और कुछ ही दिनों में राजदरबार में सामान्य ब्राह्मणों की भाँति उनका आदर-सत्कार कम होने लगा। किन्तु राजवंश की ओर से होनेवाली यह उपेक्षा भृगु-वंशियो को दुःखद नहीं प्रतीत हुई। अपार धन-सम्पत्ति एवं प्रतिष्ठा के अर्जन के कारण वे तात्कलिक समाज में अत्यधिक आदर-मान के पात्र स्वयं बन चुके थे। उनके समान धन-सम्पदा राजा के पास भी नहीं थी तो सामान्य प्रजाजन के पास होना तो सर्वथा असम्भव था।

विधाता की इस सृष्टि में धन-सम्पत्ति अपने आश्रय के प्रति सदा से ईर्ष्या की सृष्टि कराती रही है। फलस्वरूप भृगुवंशी ब्राह्मणों के इस अत्यधिक धन सम्पत्ति की चर्चा समाज में सर्वत्र ईर्ष्या की वस्तु

बन गई थी। स्वयं उनके यजमान कृतवीर्य राज-वंशजों के हृदय में ही भृगवंशियों की उस अटूट सम्पदा के प्रति शुभ भावना नहीं रह गई थी। वे उनके ऐश्वर्य एवं वैभव को देखकर ईर्ष्यालु बन जाते थे और मन ही मन ऐसा अवसर आने की प्रतिज्ञा करते रहते थे जब जी खोलकर भरे समाज में उनको अपमानित करने का कोई संयोग मिल सके।

+ + +

एक बार हैहय प्रदेश में चिरकाल तक भयंकर अनावृष्टि हुई। वर्षों तक धरती पर पानी की बूँदें नहीं पड़ीं। श्वेत बादलों की छाया देखते-देखते प्रजा निराश बन गई किन्तु कभी पानी की एक बूँद भी उनकी आशा को सफल करने के लिए धरती पर नहीं गिरी। कृषि व्यवस्था नष्ट हो गई, बनस्पति सूख गए, कूपों में जल नीचे चले गए। बड़े बड़े सरोवरों की कमलिनियाँ पंकों में विलीन हो गईं और जहाँ कभी हंस, सारस, बक और चक्रवाकों की कर्ण मधुर ध्वनियां भ्रमरों की गूँज को अधिक मनोहर बना देती थीं वहाँ रुदन करने वाली शृंगालियों की भयंकर आवाजें बटोहियों के हृदयों को दहला देती थीं। चतुर्दिक हाहाकार मचा था। पशु-पक्षी और कीट-पतंगों की परम्पराएँ नष्ट होने लगीं, अरण्य सूखने लगे और धरती की ज्वाला से नीलाकाश रक्तिम-सा होने लगा।

प्रजावर्ग की विपत्तियों से विह्वल कार्त्तवीर्यों का धैर्य जब अपनी सीमा के समीप पहुँच गया तो महामात्य ने एक दिन सन्ध्या के समय एकान्त में राजा से निवेदन किया—

'महाराज! राजा के सत्कर्म प्रजा की अभ्युन्नति के कारण होते हैं और राजा के दुष्कर्मों अथवा पापों के कारण ही प्रजा को विपत्तियों की ज्वाला में दग्ध होना पड़ता है। निश्चय ही हैहय प्रदेश की प्रजा पर यह जो विपत्ति आई है उसका कारण राजन्य वर्ग में फैला हुआ सत्कर्मों का ह्रास है। माहिष्मती में इधर अनेक वर्षों से न तो

कोई महान यज्ञ हुए और न दान के ही कोई अवसर उपस्थित हुए। मैं तो समझता हूँ कि प्रजा की विपदा का उन्मूलन तब तक नहीं हो सकता जब तक पूर्वकाल की दान-यज्ञ की परम्पराएँ पुनः प्रचलित नहीं कर दी जातीं।'

राजा चुप रहे। महामात्य की वाणी में उन्हें तथ्य का आभास मिला। प्रजावर्ग की विपत्तियों के समाचार उन्हें प्रतिदिन मिल रहे थे। दान, यज्ञ, धर्म और परोपकार की पावन परम्परा के ह्रास के कारण वे भी कम चिन्तित नहीं थे, किन्तु करते क्या। पूर्व प्रथानुसार दान-यज्ञादि पुण्य कर्मों में प्रति वर्ष राजकोष सम्पूर्ण रूप से रिक्त हो जाता था, जिससे उत्तरोत्तर बढ़नेवाले परिवार के व्यय में भी प्रतिदिन कठिनाई उपस्थित हो जाती थी और परिवार के भीतर असन्तोष और अशान्ति के लक्षण दिखाई पड़ते थे। कुछ दिनों तक तो यही स्थिति रही किन्तु बाद में विवश होकर कुछ दिनों के लिए बड़े-बड़े दान-यज्ञों की परम्पराओं को स्थगित करने का दुःखद निश्चय करना पड़ा। क्योंकि राजकोष में वृद्धि की संभावना थी नहीं, और परिवार में वृद्धि के कारण व्यय उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा था। यद्यपि आरम्भ में कुछ ही दिनों के लिए यह दान यज्ञ स्थगित किए गए थे किन्तु शारीरिक सुख एवं भोग की प्रवृत्ति को एक बार छूट दे देने पर उसे पुनः नियंत्रित करना सुगम नहीं रह जाता। स्थगित यज्ञों एवं दान-प्रसंगों को पुनः प्रचलित करने की स्थिति नहीं आ सकी। जब स्वयं राजा ही इस ओर से उदासीन हो गए तो राजन्य वर्ग तो शारीरिक सुख-सुविधा के प्रबल पक्षपाती सदा से ही थे।

शनैः शनैः राजा की उपेक्षा तथा राजन्यवर्ग की तीव्र इच्छा के कारण यज्ञों एवं दान-प्रसंगों की पावन परम्परा हैहयवंश से कुछ दिनों के लिए उन्मूलित हो गई और उसके स्थान पर विषय-सुख-भोगों की प्रबल आकांक्षा द्विगुणित वेग से उद्भूत हो गई। ईर्ष्या, द्वेष, कलह, अनुपकार तथा मद-मत्सर के अभ्युदय से समूचा हैहय

राजवंश नरक की ज्वाला से दग्ध-सा होने लगा। राजन्यवर्ग में पारस्परिक द्वन्द्व और संघर्ष की घटनाएँ आए दिन घटित होने लगीं और सद्भाव तथा सौमनस्य क्षीण होने लगा।

महामात्य हैहय राजवंश की इस अधोगति से बहुत दिनों से चिन्तित थे और राजा का ध्यान इस ओर आकृष्ट करने के लिए वे उतावले भी थे किन्तु संयोग नहीं मिल रहा था। आज का संयोग उन्हें बड़ा सुखद लगा और उन्होंने अपनी मनोव्यथा को प्रकट करने में तनिक भी संकोच नहीं किया।

हैहयराज ने महामात्य की बातों को हृदय में स्वीकार कर लिया किन्तु प्रकटतः अपनी विवशता निवेदन करते हुए कुछ क्षण बाद उन्होंने कहा—'महामात्य! आपका कथन सत्य है किन्तु राजवंश की आर्थिक स्थिति से भी आप अपरिचित नहीं हैं। प्रतिदिन बढ़ते हुए हैहयवंश का भरण-पोषण तब तक सुगमता से संभव नहीं है जब तक कोई नया भूभाग स्वायत्त न किया जाय। अतः यज्ञ तथा दानादि की पूर्व परम्परा को प्रचलित करने के पूर्व किसी नए भूभाग पर आक्रमण करना परम आवश्यक है।'

महामात्य कुछ क्षण चुप रहे फिर सविनय बोले—'महाराज! प्रजा वर्ग की इस भयंकर विपन्नता में पड़ोसी राज्यों पर अभियान करने की सम्मति मैं नहीं दे सकता। क्योंकि इससे भी असन्तोष और अशान्ति की वृद्धि ही होगी।'

राजा बोले—'सो तो ठीक है, किन्तु वर्तमान स्थिति में दान एवं यज्ञादि की परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए अपेक्षित साधनों की प्राप्ति कहाँ से होगी?'

यह विचार विमर्श चल ही रहा था कि इसी बीच राजा के परम विश्वासपात्र भ्रातुष्पुत्र भी वहीं आ पहुँचे। उनके हृदय में भृगुवंशीय पुरोहितों के प्रति पहले ही से द्वेष और घृणा भरी थी। सन्दर्भ से अवगत किए जाने पर उन्होंने सुझाव दिया—'महाराज! दान एवं यज्ञादि

के द्वारा पहले ही से अत्यन्त समृद्ध और निर्विरण भृगुवंशियों को और अधिक समृद्ध करना उचित न होगा। वे अपनी धन-सम्पदा में इतने मदोन्मत्त और निश्चिन्त हो गए हैं कि इस भयकर स्थिति में भी उन्हें देश और समाज के कल्याण की चिन्ता नहीं है। संपदा ने उन्हें अन्धा बना दिया है, उनकी प्रवृत्ति भोगवादी हो गई है और उनका पुरोहित नाम निरर्थक हो गया है।'

राजा ने भ्रातुष्पुत्र के कथन का समर्थन करते हुए कहा—'महामात्य! इनकी बातें सत्य हैं। हमारे पुरोहित सचमुच धन-सम्पत्ति के मद में उन्मत से हो गए हैं। जहाँ उन्हें स्वतः लोककल्याण की भावना से अनुप्राणित होना चाहिए था वहाँ प्रेरणा और प्रार्थना के बाद भी उन्हें प्रजा-वर्ग के कल्याण की चिन्ता नहीं है। इस भयंकर अकाल में भी वे राजकुल की भांति भोग और आलस्य का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। प्रजा के हाहाकार और क्रन्दन को सुनने के लिए उनकी श्रवणशक्ति कुण्ठित हो गई है। इस धन-सम्पत्ति ने उनकी चेतना का विनाश कर दिया है।'

महामात्य कुछ क्षण चुप रहे। फिर सकुचाते हुए बोले – 'महाराज! आपका कथन सत्य हो सकता है किन्तु राजा के हृदय में अपने पुरोहित के प्रति इस प्रकार की अशुभ भावना का उदय भविष्य के अमंगल का सूचक है। राजा सब के कल्याण का विधाता है। पुरोहित केवल राजा का हित देखता है। मेरा अनुमान है कि आज भी आप का पुरोहित-कुल आप के कल्याण और मंगल के प्रति उदासीन नहीं है। यह ठीक है कि उसके पास अतुल धन-सम्पदा भरी है किन्तु सारी सम्पदा आप की तथा आप के पूर्वजों की ही दी हुई है जब सामान्य लोग भी अपने द्वारा प्रदत्त वस्तुओं के प्रति अशुभ भावना नहीं रखते तो राजा तथा उसके परिजनों के लिए ऐसी भावना अकल्याण की जननी है। मेरा अनुरोध है कि लोक-मंगल की कल्पना में अपने पुरोहितों के प्रति अमंगल की यह भावना आप

के लिए तथा आप के परिजन वर्ग के लिए अत्यन्त अशुभ है। ऐसा न कीजिए महाराज!'

वाचाल भ्रातुष्पुत्र से नहीं रहा गया। उसने महामात्य को कुण्ठित करने के लिए तनिक तीव्र स्वर में कहा—'महामात्य! आप के ये विचार इस भयंकर आपत्ति के समय विचारणीय नहीं हैं। इस समय हमें आपद्धर्म की शरण लेनी पड़ेगी। मेरा तो सुझाव है कि पुरोहित कुल के पास जितनी धन-सम्पदा एकत्र हो गई है उसको उनसे ले कर लोक-कल्याण के कार्यों में विनियोग करना अनुचित नहीं है।'

महामात्य को धक्का लगा। वे कार्तवीर्यों के मुख से इस प्रकार की अशुभ वाणी की कल्पना भी नहीं करते थे। उनके आश्चर्य का उस समय ठिकाना नहीं रहा जब उन्होंने राजा को यह कहते हुए सुना—

—'महामात्य! भ्रातुष्पुत्र के इस कथन को मैं स्वीकार करता हूँ। क्योंकि प्रजा के त्राण एवं कल्याण के लिए इस समय कोई अन्य उपाय नहीं है। हाँ, मैं अवश्य चाहता हूँ कि पुरोहित कुल की सहमति से ही उनकी सम्पदा का विनियोग लोक-कल्याण के कार्यों में किया जाय।'

महामात्य क्या बोलते? भावी अमंगल की विषाक्त रेखा से उनका मुखमण्डल विकृत हो गया। आँखों में दुःखावेग के आँसू छलक आए और वाणी अर्धकण्ठ में ही सूख-सी गई। बड़ी कठिनाई से राजा की उत्सुकता को शान्त करते हुए वह बोले—

—'महाराज! मैं ऐसे लोक-शास्त्र-विनिन्दित कर्म की सम्मति देने में अपने को असमर्थ पाता हूँ। मेरी उमर बहुत अधिक हो गई है, शरीर शिथिलित है, विचारों में दृढ़ता नहीं रह गई है। मैं अपने को आप की तथा राज्य की सेवा के उपयुक्त नहीं पा रहा हूँ। मेरी प्रार्थना है कि मुझे सेवा से निवृत्ति प्रदान की जाय और अमात्य

मण्डल के किसी वरिष्ठ सदस्य के बलवान कंधों पर यह भारी बोझ डाला जाय।'

भ्रातुष्पुत्र की प्रेरणा से राजा ने महामात्य के इस सामयिक अनुरोध को तत्क्षण स्वीकार कर लिया और उनके स्थान पर बिना किसी की नियुक्ति किए ही पुरोहित कुल से उनकी सारी धन-सम्पदा लेकर राज कोष में जमा कर देने की विशेष आज्ञा उन्होंने उसी दिन निकाल दी। फिर क्या था। उस भयंकर अकाल की स्थिति में पुरोहित कुल की अटूट सम्पदा समस्त राजन्यवर्ग के हृदय में ईर्ष्याग्नि का प्रचण्ड ज्वाला फूँक रही थी। राज-कर्मचारियों ने राजा के आज्ञा-पत्र के निकलते ही उसका अक्षरशः पालन किया।

भृगुवंशियों की सारी सम्पत्ति उनसे छीनी जाने लगी। सैकड़ो वर्षों से राजकुल की भाँति सुख एवं ऐश्वर्य से जीवन बिताने के अभ्यासी पुरोहितों ने राजाज्ञा का आरम्भ में तीव्र प्रतिवाद किया और राज-कर्मचारियों के दलों पर प्रतिरोधात्मक आक्रमण किया। किन्तु कहाँ एक ओर चिरकाल की ईर्ष्याग्नि में दग्ध सशस्त्र राज-कर्मचारियों का उग्र दल और कहाँ दूसरी ओर सुख-भोग और आलस्य के अभ्यासी अकर्मण्य पुरोहित। थोड़े ही समय में समस्त भृगुवंशियों को कैद करके राजकर्मचारियों ने बलात् उनकी सारी सम्पदा हस्तगत कर ली। राजाज्ञा के होते हुए भी उन्होंने उनकी स्त्रियों तथा बच्चों के शरीर पर से भी उनके आभूषण छीन लिए। कीमती वस्त्र, हाथी, घोड़ा, रत्न, सुवर्ण, रजत, वेश-भूषा की सामग्रियाँ तथा खाने पीने की वस्तुएँ—सब कुछ ले लिया। उनके पास केवल उनके निवास स्थल ही तथा कुछ खाने-पीने की सामग्रियाँ शेष रह गईं।

किन्तु धन-सम्पत्ति की ममता अपार होती है। एक ओर जहाँ राजवंश के लोग तथा राज-कर्मचारी नृशंसतापूर्वक भृगुवंशियों की धन-सम्पदा छीन कर एकत्र कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर चतुर भृगुवंशियों की स्त्रियों ने अपनी मूल्यवान सम्पदाएँ धरती के भीतर

छिपा कर रख दिया। यह सम्पदा छीनी हुई सम्पदा से कई गुनी अधिक थी। अतः जब राजन्यवर्ग भृगुवंशियों की लूट से छुट्टी पाकर वापस चला आया तो भृगुवंशी लोग अपनी उस छिपाई हुई सम्पदा से कुछ दिनों बाद पुनः पूर्ववत् सुख पूर्वक जीवन यापन करने लगे। उनके जीवन-क्रम में कोई अन्तर नहीं आया।

राजन्यवर्ग भृगुवंशियों की इस अपरिवर्तित आर्थिक स्थिति पर आश्चर्य चकित रह गया। उसे यह समझने में बिलम्ब नहीं लगा कि भृगुवंशियों के पास अब भी अटूट सम्पदा भरी पड़ी है। फिर क्या था। राजा के साथ राजन्यवर्ग तथा कर्मचारियों की फिर गुप्तमंत्रणा आयोजित हुई और उसमें यह निश्चय किया गया कि जैसे भी हो भृगुवंशियों की यह सारी सम्पदा पुनः राजकोश में आनी ही चाहिए। निदान भृगुवंशियों पर राजपरिवार ने अपने सुदक्ष सैनिकों को लेकर सुनियोजित आक्रमण करने का जब निश्चय किया तो भृगुवंशियों ने भी उनके प्रतिरोध का दृढ़ निश्चय किया। परिणाम यह हुआ कि इस द्वितीय आक्रमण ने कार्त्तवीर्यों के साथ भृगुवंशियों के भयंकर संग्राम का रूप धारण कर लिया। भीषण रक्तपात हुआ। समस्त भृगुवंशियों को क्रोधान्ध राजपरिवार, उसके कर्मचारियों और सैनिकों ने नृशंसतापूर्वक मार डाला। स्त्रियों और अबोध बच्चों के साथ बुड्ढों और अपाहिजों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा।

हत्या की प्रवृत्ति जब दैवेच्छा से एक बार निरर्गल हो जाती है तो वह अपने सम्पूर्ण दुष्परिणामों की शक्ति के साथ भयंकर रूप धारण करती है। सदा से अपनी धर्मनिष्ठा और सत्प्रवृत्तियों के लिए सुप्रसिद्ध कार्त्तवीर्यों ने राक्षसों की भांति अपने पुरोहितों का समूल संहार कर डाला। उनकी अट्टालिकाएँ जला डालीं, भवनों के कंगूरे धराशात कर दिए। पशुओं को छीन लिया, कूपों और बावलियों को पाट दिया। यहाँ तक कि उनके ऊँचे ऊँचे भवनों के स्थान पर गहरे

गड्ढे बना डाले और धरती के नीचे छिपी हुई उनकी अपार धन राशि को प्राप्त कर अपने को सफल मनोरथ समझने लगे।

इस भयंकर लूट-पाट, अग्नि, उत्खनन और हत्याकाण्ड के कारण भृगुवंशियों में से कोई पुरुष नहीं बचा। केवल कुछ विधवाएँ प्राणों के भय से भाग कर दुर्गम गिरि-गह्वरों और काननों में चली गई थीं, जिनको एक दयार्द्र सैनिक ने जान बूझ कर भाग जाने का अवसर दे दिया था। उन्हीं भगी हुई विधवा स्त्रियों में से एक की गोंद में कुछ ही दिनों पूर्व पैदा हुआ एक बालक भी बच गया था, जिसे उसने अपने हृत्पिण्ड के समान बड़े प्रयत्न से छिपा रखा था।

जब लूटपाट और हत्याकाण्ड की यह आंधी मंद हुई और राजा तथा उसके परिवार एवं सैनिक वर्ग को अपने कृत्यों पर विचार करने का अवसर लगा तो उन्हें यह जानकर बड़ा क्षोभ हुआ कि भगी हुई विधवा स्त्रियों में से एक के पास एक छोटा-सा बालक अभी बचा हुआ है। राजा क्रोध से भर गया, उसके नथुने फड़कने लगे, भुजाएं चंचल हो उठीं, और वाणी में अग्नि की दाहकता आ गई। उसने सेना के प्रधान को बुलाकर परुष आज्ञा दी—

'सेनापते! जैसे भी हो, भृगुवंशियों के उस अवशेष को समाप्त किए बिना तुम माहिष्मती को वापस नहीं आ सकते। क्योंकि भृगुवंश का समूल विनाश यदि न हो सका तो उसी के द्वारा बाद में चलकर हमारे कुल के लिए भय उपस्थित हो सकता है। ऋण, शत्रु और व्याधि की मात्रा स्वल्प भी हो तब भी उसकी सदैव चिन्ता करनी चाहिए। इनकी तनिक भी उपेक्षा बाद में चलकर अत्यन्त हानि और भय का कारण बनती है।'

सेनापति ने भृगुवंशियों की उन विधवा स्त्रियों का पता लगाकर उनका पीछा किया। किन्तु प्राण-भय सब से अधिक चेतना देनेवाला होता है। भृगुवंशियों की वे अबलाएँ उस अपनी नेत्र-ज्योति की रक्षा के लिए प्राणपण से सचेष्ठ थीं। वे माहिष्मती की सीमा लाँघकर

पर्वतीय तथा कानन प्रदेशीय दुर्गम मार्गों का सहारा लेकर अशरण शरण शंकर की प्रियभूमि हिमवान की उपत्यका में पहुँच चुकी थीं। दक्ष हैहय सेनापति को अनेक गुप्तचरों की सहायता से उनका मार्ग तथा उनकी स्थिति की सूचना संकलित करने में अधिक कठिनाई नहीं हुई। वह थोड़े ही दिनों में हिमवान की उपत्यका म पहुँच गया और उन भृगुवंशा अबलाओं को घेरकर उन्हें अपना बालक समर्पित कर देने की क्रूर आज्ञा भी दे दी।

किन्तु अबलाएँ इतनी सुगमता से भृगुवंश के उस परम तेजस्वी बालक को सौंपने के लिए कैसे तैयार होतीं? वे अपने सम्पूर्ण तेजोबल तथा साहस को समेट कर प्रमुख सेनापति के सम्मुख खड़ी हो गईं और उनमें से जो प्रमुख थी, उसने विनीत किन्तु निर्भय स्वर में कहा—

'सेनापते! त्रिभुवन विख्यात महान् भृगुवंश के इस अन्तिम प्ररोह का विनाश करने की शक्ति तुममें नहीं है। यह तेजस्वी बालक कार्त्तवीर्यों का काल होकर जन्मा है। यदि तुम अपना भला चाहते हो तो यहाँ से तत्क्षण भाग जाओ, क्योंकि हम देख रही हैं कि जब से तुम इस वन्यप्रदेश में आए हो तभी से इस तेजस्वी बालक के होंठ फड़क रहे हैं, नेत्र रक्तवर्ण के हो गए हैं, मुट्ठियाँ बँध गई हैं और यह स्पष्ट स्वर में तुम्हारे विनाश की आज्ञा माँग रहा है। तुम कार्त्तवीर्य नहीं हो, अतः मैं नहीं चाहती कि तुम्हारा भी विनाश उन्हीं पापात्माओं के साथ हो जाय।'

सेनापति भृगुवंश की विधवाओं की यह निर्भय वाणी सुनकर हतप्रभ हो गया। उसकी वामभुजा फड़कने लगी। विशाल धनुष उसके हाथ से छूटकर नीचे गिर पड़ा और उसी क्षण मानों उसको सुनाते हुए अनतिदूर अरण्यानी में शृगालियों ने भयंकर चीत्कार किया। वह कुछ क्षण चुप रहा। एक ओर उसे कठोर राजाज्ञा की पूर्ति

करनी थी और दूसरी ओर असह्य ब्रह्मतेज की ज्वाला उसके तन मन को जला रही थी।

भृगुवंश की तेजस्विनी विधवा ने कार्तवीर्य के सेनापति को पुनः सावधान किया—'सेनापते! हम अतीत के अपने सम्पूर्ण दुःखों, और विपदाओं को भूलकर इसी एक प्ररोह की रक्षा में दत्तचित्त हैं। तुम इन विधवाओं के असह्य दुःखों से तप्त अश्रुधारा में कूदने का दुःसाहस मत करो। तुम्हारा कल्याण इसी में है कि तुम यहाँ से माहिष्मती वापस चले जाओ और सम्पूर्ण भृगुवंश का नृशंस हत्या करानेवाले अपने उस राजा से कह दो कि—भृगुवंश में तुम्हारी इन कुटिल करतूतों का प्रतीकार करनेवाला जो तेजस्वी बालक जन्म ले चुका है, वह नियति की अविचल इच्छाओं का प्रतीक है। वह अब कदापि मारा नहीं जा सकता। यदि अब भी तुम अपना और अपने वंश का कल्याण चाहते तो हो उसके साथ बैर न करो, समय आने पर उससे क्षमा माँग लो।'

सेनापति किंकर्त्तव्यविमूढ़ था। उसने धरती पर गिरे हुए अपने धनुष को उठा कर कंधे पर फिर से टाँग लिया और कुछ क्षण चुप रह कर नीचे की ओर दृष्टि करके कहा—

—'भद्रे! मैं राजाज्ञा के कठोर बन्धनों से विवश हो रहा हूँ। बालक का अन्त किए बिना हम माहिष्मती को वापस नहीं जा सकते। हम जानते हैं कि हमारा यह कठोर कर्त्तव्य अत्यन्त विगर्हित तथा हमारे उभय लोकों का विनाश करने वाला है किन्तु अपने कर्त्तव्य की कठोरता के सम्मुख हम विवश हैं। आप लोग कृपाकर प्रतिरोध न करें और भृगुवंश के उस बालक को हमारे हाथों में सौंप दे, जो इस भीषण विपत्ति के बाद भी आप लोगों को चिन्ताकुलित किए हुए है।'

सेनापति के यह कहते ही हिमवान की उपत्यका में एक भीषण विस्फोट-सा शब्द सुनाई पड़ा। वह इतना भयानक था कि धरती

काँप उठी। सरोवरों तथा नदियों की जलराशि उद्वेलित हो उठी, वृक्षों और लताओं के कुंजों में सुख से बैठे पक्षिवृन्द चीत्कार करते हुए ऊपर उड़ने लगे, दिशाएँ धूसरित हो उठीं। रविमण्डल तीव्र हो गया और आकाश में धरती का यह कोलाहल परिव्याप्त हो गया।

इस अप्रत्याशित दुर्घटना का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। हिमवान की शान्त अरण्यानी में दावाग्नि की लपटें-सी फूटने लगीं और सेनापति के देखते ही उसकी सेना के शिविर धू-धूकर जलने लगे। सैनिकों ने जो यह भयंकर दुर्घटना देखी तो वे शिविर से भाग खड़े हुए किन्तु भागकर अपने प्राणों की रक्षा करना उनके लिए इतना सरल नहीं रह गया था। शिविर से कुछ ही दूर जाने पर उनके नेत्रों की ज्योति जाने कहाँ विलीन हो गई और वे एक दूसरे का नाम ले-लेकर करुण चीत्कार करने लगे। गिरि-गह्वरों तथा वृक्षों की जड़ों और वनस्पतियों पर टकरा-टकराकर गिरने लगे।

सेनापति अब तक प्रकृतिस्थ था; किन्तु अपने चतुर्दिक व्याप्त इस अनिष्टकारी दुर्घटना से वह भी विकम्पित हो गया था। हैहयवंश का न होने के कारण अब तक उसके नेत्रों की ज्योति क्षीण न हुई थी किन्तु अपने बलवान सैनिकों की दयनीय दुर्दशा देखकर वह भी भय विकम्पित होकर उस तेजस्विनी विधवा के चरणों पर गिर कर आर्तस्वर से प्रार्थना करने लगा। उसने कहा—

'भद्रे! मेरे अपराध क्षमा हों। त्रिभुवन विख्यात भृगुवंश के एक मात्र अवशेष के इस महान् प्रभाव को देख कर मैं विस्मयविमुग्ध हूँ। अज्ञान और प्रतिहिंसा से विजड़ित कार्तवीर्यों ने आप के परिवार के साथ जो नृशंसतापूर्ण व्यवहार किए हैं, उनकी तुलना सचमुच समूचे संसार में नहीं मिलेगी। आप हम अपराधियों पर कृपा करें और हमें माहिष्मती को वापस जाने की शक्ति और नेत्रज्योति प्रदान करें। अपने दुष्कर्मों का फल हमें भर पूर मिल चुका है।'

तेजस्विनी विधवा ने देखा, वह अद्भुत बालक अब भी क्रोध के

आवेश में भरा था। उसका ओजस्वी मुख मण्डल क्रोधाधिक्य से रक्त वर्ण का हो रहा था। कमलदलायत सुन्दर नेत्रों की भ्रुकुटियाँ बंकिम हो गई थीं, ओंठ फड़-फड़ा रहे थे और मुट्ठियाँ इस प्रकार बँधी थी, जैसे वह कार्तवीर्यों के समूल विनाश का दृढ संकल्प ग्रहण कर रहा हो।

बालक की विकट मुख मुद्रा देखकर उसकी माता की सहेली वह विधवा भी हतप्रभ हो गई। इसके पूर्व ऐसे छोटे बालक के तेज का उग्र प्रदर्शन उसके लिए बिल्कुल नई बात थी। संकेत से उस तेजस्वी बालक की माता को बुला कर उसने उसके क्रोध को शान्त करने का उपाय पूछा, क्योंकि उपत्यका में फैली हुई भीषण अग्नि की लपटों से उन सब के शरीर भी अब तप्त हो रहे थे और अरण्यानी में चतुर्दिक भयानक कोलाहल मचा था। निरीह पशु-पक्षी और कीट-पतंग सभी जल रहे थे। माता को अपने तेजस्वी बालक के इस अप्रतिम तेज को जानकारी इससे पूर्व ही मिल चुकी थी, जब वह गर्भ में ही अनेक बार वेदों के गायन से उसकी कुक्षि को पवित्र कर चुका था। वह कुछेक क्षण चुप रही फिर अत्यन्त क्रोध से जलते हुए बालक के शिर पर अपने स्नेहपूर्ण दाहिने हाथ को फेरते हुए बोली—

'वत्स! तुम्हारे विकराल क्रोध की ज्वाला से चराचर दग्ध हो रहा है, निरीह पशु-पक्षी और कीट-पतंग जल रहे हैं। हिमवान की मनोरम अरण्यानी भस्म हो रही है, चतुर्दिक दिशाओं में भय फैल रहा है और दुरात्मा कार्तवीर्यों के सहस्रों सैनिक नेत्रज्योति से विहीन हो कर इधर-उधर गिर-पड़ रहे हैं। अपने क्रोध को समेट लो वत्स! क्षमा ब्राह्मणों की सदैव से संगिनी रही है, उसका त्याग न करो और इन शरणागतों के अपराधों का विचार त्याग कर इन्हें पुनः नेत्रज्योति और शान्ति प्रदान करो।'

भृगुवंश का वह तेजस्वी बालक अपनी माता की ममतामयी

वाणी सुनकर कुछ क्षण चुप रहा। फिर अपनी आश्चर्यजनक वाणी से सब को विस्मय के समुद्र में डुबोते हुए वह कठोर स्वर में बोला—

—'माँ! इन क्रूर कार्तवीर्यों का विनाश किए बिना धरती पर धर्म की मर्यादा स्थिर नहीं रह सकती। इन्होंने जो भयंकर अपराध किए हैं उनको क्षमा करना असंभव है। मैं इन सबका समूल संहार किए बिना छोड़ नहीं सकता मां।'

सेनापति बालक की कठोर वाणी सुनकर स्तब्ध रह गया। अपने नेत्रविहीन सैनिकों की दुर्दशा देखकर वह अति चिन्तित था। हाथ जोड़कर विनय भरे स्वर में उसने पुनः निवेदन किया—

'भृगुकुलकमल! आपकी तेजस्वी वाणी ने हमें बता दिया है कि कार्तवीर्यों का विनाश समीप है। किन्तु माहिष्मती से इतनी दूर इस भीषण अरण्य एवं पर्वत-गुफाओं में नेत्रहीन होकर भटक-भटक कर नारकीय ज्वाला में जलाने से हमें बचा लें। हमारी जो भी दुर्दशा होनी चाहिए वह माहिष्मती में ही हो। कृपा कर माहिष्मती तक पहुँ-चने की शक्ति तो हमें प्रदान ही कर दें, जिससे हम उन नृशंस कार्त-वीर्यों तक पहुंच कर इस बात की सूचना तो दे सकें। अन्यथा वे तो यही समझते रहेंगे कि सेनापति सैनिकों के साथ कहीं अन्यत्र भाग गया। आप के त्रैलोक्यविजयी तेज एवं पराक्रम की यह कथा सुनाने के लिए हमारा सदल बल माहिष्मती पहुँचना आवश्यक है। हमारे अपराध क्षमा हों महाराज! हम निर्दोष हैं। कार्तवीर्यों का अन्न-जल ग्रहण करने के कारण उनकी आज्ञाकारिता भी हमारा परम धर्म है। आप सब कुछ जानते हैं। अतः हमारे अपराधों को भूलकर हमें पुनः नेत्र-ज्योति प्रदान कर माहिष्मती तक पहुँचने की शक्ति दें।'

बालक कुछ क्षण चुप रहा। फिर अपने दाहिने हाथ को आकाश की ओर उठाकर वह बोला—'सेनापते! तुम्हें अपने सैनिकों के संग

माहिष्मती तक पहुँचने की शक्ति और नेत्र-ज्योति मैं दे रहा हूँ। किन्तु मैं हैहयों का समूल विनाश किए बिना शान्त नहीं हो सकता।'

अपनी नेत्र-ज्योति एवं शारीरिक शक्ति वापस पाकर माहिष्मती के सैनिकों और सेनापति को पुनर्जीवन-सा मिल गया। उन्होंने देखा कि प्रकृति के सारे उपद्रव शान्त हो गए हैं और अरण्यानी में पुनः पूर्ववत् शान्ति विराजने लगी है। भृगुकुल की विधवाएँ सामने खड़ी हैं और वह तेजस्वी बालक अपनी पूर्ववत् निरीह मुद्रा में अपनी माता की गोद में मुस्करा रहा है।

\+ \+ \+

सेनापति और सैनिकों के चले जाने पर भृगुकुल की विधवाओं ने सन्तोष की सांस ली, किन्तु उस विचित्र बालक के अद्भुत् तेज से उनकी आंखें अब भी चमत्कृत थीं। इसी बीच अन्तरिक्ष से अशरीरिणी वाणी उन्हें सुनाई पड़ी—

'भृगुकुलोद्वह! तुम्हारे अनुपम तेज और पराक्रम से धरती हिल गई है और रविमण्डल प्रदीप्त हो उठा है। यह अच्छा ही हुआ जो तुमने आततायी हैहय सैनिकों को क्षमाकर उन्हें माहिष्मती तक वापस जाने की शक्ति दे दी। क्षमा ब्राह्मणों का आभूषण है वत्स! तुम अपना क्रोध शान्त करो क्योंकि उसे सहन करने की शक्ति इस चराचर में नहीं है।'

माता की गोद में शान्ति से खेलते हुए उस तेजस्वी बालक के ओंठ फिर फड़कने लगे। आखें रक्तिम हो गईं, कपोल और ललाट जलने लगे तथा मुट्ठियाँ बँध गईं। उसने पुनः प्रबुद्ध स्वर में कहा—

—'इन नराधम हैहयों का समूल विनाश किए बिना मुझे शान्ति नहीं है देव! मैं अपने पूर्वजों के नृशंस वध का बदला चुकाए बिना शान्त नहीं हो सकता। मेरा हृदय जल रहा है और मैं अधीरतापूर्वक उस अवसर की प्रतीक्षा में हूँ, जब धरती से इन पापियों के समूलोच्छेद

का अवसर मुझे मिलेगा। मैं इन्हें कथमपि क्षमा नहीं कर सकता देव !'

बालक की तेजस्विनी वाणी ने हिमालय की उस शान्त उपत्यका में पुनः भीषण हाहाकार पैदा कर दिया। वृक्ष और लताएँ काँप गईं। पक्षी-वृन्द उड़ उड़कर भागने और करुण क्रन्दन करने लगे, वन्य पशु चीत्कार कर भागने लगे और वातावरण धूलि से भर गया। यह दृश्य देख भृगुवश की विधवाएँ भय से पुनः अवसन्न हो गईं।

अशरीरिणी वाणी कुछ देर शान्त रही। फिर सब कुछ प्रकृतिस्थ हुआ तब वह पुनः सुनाई पड़ी—

'भृगुवंश के तेजस्वी कुमार ! तुम अपने क्रोध का संवरण करो और सृष्टि के कल्याण में ही अपनी साधना और तपस्या का बल लगाओ। क्रोधी का तपःतेज नष्ट हो जाता है वत्स ! तुम्हारे इस दुःसंकल्प से यह धरती रक्तरंजित हो जायगी और चराचर में किसी का भी कल्याण नहीं होगा। प्रतीकार ब्राह्मणों का कर्त्तव्य कभी नहीं रहा। हम तुम्हारे कुलपूर्वज हैं। हमने स्वयं संसार के कल्याण के लिए कार्त्तवीर्यों को क्षमा दे दी है। तब फिर तुम्हें अपनी तपस्या को विनष्ट करने से क्या लाभ होगा। हमारे अनुरोध को स्वीकार कर तुम भी इन्हें क्षमा कर दो वत्स !'

बालक अप्रतिम दुराग्रही था। उसके नेत्र अभी तक क्रोध की विकराल ज्वाला से दग्ध हो रहे थे। मुट्ठियाँ पूर्ववत् बंधी थीं और होठों के बीच में दबे दुग्ध धवल दांतों की ज्योति चमक रही थी। उसकी रुष्ट वाणी में अब भी विष का प्रवाह था। उसने तत्क्षण उत्तर दिया—

'पूज्य पितृगण ! मै अपने इस असह्य क्रोध को त्याग नहीं सकता। इन नराधम क्षत्रियों ने जिस समय आप लोगों का सकुल संहार किया उस समय हमारी असहाय माताओं के करुण क्रन्दन से धरती के गिरिगह्वर तक करुणार्द्र हो गए थे किन्तु इन पाषाण-हृदयों में तनिक भी दया नहीं उपजी। इन्होंने बड़ी क्रूरता से आप लोगों का यज्ञ के

पशुओं की भांति वध किया है। प्राणभय से भागती हुई अबलाओं, वृद्धों और बालकों को इन्होंने खदेड़ खदेड़ कर मारा है, उन्हें जीवित जला दिया है, गर्भवती और वृद्धा स्त्रियों को भी नहीं छोड़ा है। ये सब ऐसी दुर्घटनाएँ हैं कि उन्हें स्मरण कर मेरा सारा शरीर और हृदय जल रहा है। मेरी क्रोधाग्नि बिना इनका समूल विनाश किए शान्त नहीं हो सकती देव! आप ही बताइए, मैं उसे कहाँ शान्त कर सकता हूँ।'

नभोमण्डल में अवस्थित पितृगण स्तब्ध रह गए। उनकी अशरीरिणी वाणी को तत्क्षण उत्तर देना संभव नहीं रहा। किन्तु कुछ क्षण बाद वह पुनः सुनाई पड़ी—

—'वत्स! हम तुम्हारे क्रोध की यथार्थता से अपरिचित नहीं हैं, किन्तु ब्राह्मण धर्म की मर्यादा से हमारी चेतना बंधी हुई है। हम क्षमा करने के सिवा तुम्हें किसी अन्य कार्य की आज्ञा नहीं दे सकते। तुम्हारे इस असह्य क्रोध की ज्वाला इस त्रिभुवन का विनाश कर सकता है। क्योंकि अपराधी हैययों का विनाश समूचे हैहय-राज्य के विनाश का कारण बन सकता है और समूचे हैहय राज्य को विनष्ट करनेवाली तुम्हारी क्रोधाग्नि उसके आगे भी बढ़ सकती है। इन हैहयों के सम्बन्धी और मित्रों की भारी संख्या धरती के प्रत्येक अंचल पर शासनाधिरूढ़ है। वह अपने सम्बधियों की विनाश चर्चा से ब्राह्मण मात्र का उच्छेद करने से क्यों चूकेंगे। और इस प्रकार यह क्रोधाग्नि अपनी लपटों में समूचा सृष्टि को भस्म किए बिना नहीं छोड़ेगी।

अतः हमारा अनुरोध है कि तुम इतने ब्रह्मनिष्ठ, तपस्वी और साधक होकर किसी अनिष्टकारी कार्य में अपनी अपार शक्ति और तेज का दुरुपयोग मत करो वत्स! यदि तुम सचमुच उसे सम्हालने में अशक्त हो रहे हो तो उसे समुद्र की अगाध जलराशि में डाल दो।'

अपने पूज्य पूर्वजों की अशरीरिणी वाणी सुनकर वह तेजस्वी बालक पुनः प्रकृतिस्थ हो गया। फिर तो उसकी माता और भृगुवंश

की अन्य विधवाओं ने हिमवान् की उपत्यका से ले जाकर उसे शीघ्र ही समुद्र के तट पर पहुँचा दिया। वहाँ पहुँचकर उस बालक ने अपनी सम्पूर्ण क्रोधाग्नि को समुद्र की चंचल लहरों में त्याग दिया। समुद्र में गिरते ही उसने एक भयंकर घोड़े का रूप धारण किया और उसकी अतल गहराई में डूब गया।

भृगुवंश के उस तेजस्वी बालक का नाम और्व था। उसी के कारण समुद्र की उस अग्नि का भी और्वाग्नि अथवा बाडवाग्नि नाम पड़ा।

क्षत्रियकर्मा परशुराम

और्व ऋषि के पुत्र ऋचीक की पत्नी सत्यवती कान्यकुब्जेश्वर राजा गाधि की कन्या तथा विश्वामित्र की बहिन थीं। सत्यवती से ऋचीक को जमदग्नि नामक पुत्र पैदा हुआ, जो बाद में चलकर अपने पिता तथा पितामह की भांति ही परम ऋषि के रूप में विख्यात हुआ। सत्यवती की अभिलाषा थी कि उसका पुत्र उसके पति के समान ही परम विद्वान्, साधक, तपस्वी तथा क्षमाशील हो, विधाता ने उसकी यह अभिलाषा पूर्ण की। जमदग्नि न केवल अपनी ऊँची विद्या, प्रखर प्रतिभा, अमन्द तेजस्विता तथा तपोमयी साधना से ही समलंकृत थे वरन् उनका परम सुन्दर, स्वस्थ तथा बलवान शरीर भी उनकी आन्तरिक निर्मल चेतना का एक आदर्श रक्षक था। उनका छात्र जीवन परम स्पृहणीय था। वे अपने सहाध्यायियों के नेता तथा आचार्य कुल क रत्न-दीपक थे। उनकी विद्या जब सविधि सम्पूर्ण हुई और गृहस्थाश्रम में प्रवेश की मंगल-वेला आगई तो महामुनि ऋचीक के परामर्श से राजा प्रसेनजित् ने अपनी लाडली, परम रूपवती तथा गुणज्ञ कन्या रेणुका के संग जमदग्नि का परिणय कर दिया। रेणुका और जमदग्नि का दाम्पत्य-जीवन आरम्भ में अत्यन्त सुखी, निर्बाध तथा शान्त रहा।

रेणुका से जमदग्नि को पांच पुत्र हुए, जिनमें सबसे छोटे राम की प्रतिभा और चेतना अद्वितीय थी। जन्म के थोड़े ही दिनों बाद से राम में अलौकिक गुणों का प्रस्फुटन आरम्भ हो गया। यद्यपि वे ब्राह्मण के पुत्र थे और एक छोटी-सी स्वल्प साधनों से युक्त गृहस्थी में ही उनका लालन-पालन हुआ था तथापि वे किशोर वय से ही परम मनस्वी, प्रतिभाशाली तथा स्वभाव के निर्भीक थे। उनका शरीर भी

उनके स्वभाव तथा गुणों के समान ही असामान्य था। उनकी प्रलम्ब भुजाओं में बड़े बड़े वृक्षों को मूल भाग से ही पकड़कर झकझोड़ देने की अद्वितीय क्षमता थी और उनका वृषभ-स्कन्ध, विशाल उन्नत वक्षस्थल, प्रशस्त ललाट, दीर्घायत रक्तिमनेत्र, तथा सुघड़ नासिका दूर से ही उनके अलौकिक व्यक्तित्व की साक्षिणी थीं। उनकी वाणी में मृदंगध्वनि के समान गंभीरता तथा माधुरी थी और उनकी गति में वीरोचित मन्दता तथा स्वाभिमान छलकता था। जब वे किसी पथ पर चलते थे तो अपरिचित पथिक भी कियत्क्षणों के लिए उनके मुग्ध दर्शक बन जाते थे। राम जैसे अलौकिक पुत्र को प्राप्त कर महर्षि जमदग्नि और रेणुका का गृहस्थाश्रम स्वर्ग का प्रतिस्पर्धी बन गया था, क्योंकि थोड़े ही दिनों के भीतर राम की अनुपम प्रतिभा तथा कृतित्व शक्ति की चर्चा भूमण्डल के अनेक अचलों में फैल गई थी। मनीषी ऋचीक की साधना तथा सत्यवती की अभिलाषा के अनुरूप ही उनके पौत्र राम का उदय हुआ था।

धीरे-धीरे राम बड़े हुए। धरती की आकर्षक वस्तुओं ने उनकी चेतना को सम्बल दिया। उत्तम विद्या ने उनके आन्तरिक नेत्रों में ज्योति भर दी, पिता-पितामहादि के कौलीन शिष्टाचारों ने उनमें सद्विवेक का संचार कर दिया, शारीरिक आवश्यकताओं ने उन्हें कड़वे-मीठे अनुभवों की थाती भी सौंपी किन्तु फिर भी राम का अतृप्त व्यक्तित्व अभी किसी अनुपम तथा अद्वितीय निधि की प्राप्ति के लिए चिन्तातुर था। वे संसार में अजेय, अज्ञेय तथा असामान्य बनना चाहते थे। संसार में कोई भी वस्तु उन्हें सारवान नहीं दिखाई पड़ती थी।

बहुत विचार-मन्थन के अनन्तर राम ने आशुतोष शंकर की आराधना द्वारा संसार-दुर्लभ शक्ति को प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय किया। अभी उनका वय किशोरावस्था की संधि रेखा पर ही था, अध्ययन चल ही रहा था कि एक दिन अपने पिता से आज्ञा प्राप्त

कर उन्होंने परम दुर्गम गन्धमादन पर्वत की राह पकड़ी। उसकी निर्जन, शान्त तथा नीरव उपत्यका में पहुँचकर एक अनुकूल कुटीर की रचनाकर राम शंकर की आराधना में दत्तचित्त हो गए। मनस्वी का निश्चित संकल्प अपने लक्ष्य के सिवा कोई दूसरी वस्तु नहीं देखता। राम की उत्सुक आंखों में आशुतोष शंकर की मधुर-मन्द स्मिति की रेखाएं नाच रही थीं। उन्होंने अपने शरीर की सारी चिन्ताएं भी छोड़ दीं और अपनी प्रचण्ड तपस्या से आशुतोष शंकर के आसन को विचलित कर दिया।

राम में सहज ब्राह्मणोचित शालीनता और शान्ति तो थी नहीं। अतः जब इष्ट वरदान देने के लिए शंकर जी सस्मित वदन एवं सुप्रसन्न मुद्रा में उनके सम्मुख स्वयं उपस्थित हुए तब राम ने उनसे संसार भर में दुर्जेय योद्धा बनने की कामना प्रकट की। क्योंकि राम की दृष्टि में शरीरिक शक्ति ही संसार की सभी सिद्धियों की जननी थी। शंकर जी ने राम की अभिलाषाएँ पूर्ण कीं और उन्हें अनेक दिव्य शस्त्रास्त्रों की विद्या प्रदान करने के साथ ही एक ऐसा परशु भी प्रदान किया, जिसकी धारा कुण्ठित करने की शक्ति स्वयं शंकर जी में भी नहीं थी। उस परशु को संग रखकर राम जितनी बार चाहें धरती के सभी वीरों को वश्य बना सकते थे।

राम चाहते भी तो यही थे। शंकर जी के अमोघ वरदान को प्राप्त कर वे परम कृतार्थ हो गए। थोड़े ही दिनों में उनके उस परम प्रचण्ड परशु की ख्याति संसार भर में फैल गई और उसको सदैव साथ लिए रहने के कारण राम को अब परशुराम के नाम से पुकारा जाने लगा। इस इष्टसिद्धि के अनन्तर अपने पिता के पुनीत आश्रम में आकर परशुराम पूर्ववत् फिर अपने अध्ययन-अध्यापन के कार्यों में लग गए किन्तु उनका मन कभी सच्ची निष्ठा से अपने पिता के आश्रम में नहीं लगता था।

× × ×

रेणुका राजकन्या थीं। राजसी जीवन का अभ्यास सुगमता से नहीं छूटता। जमदग्नि के आश्रम में रेणुका को सभी कार्य अपने हाथों करने पड़ते थे, जब कि उसने अपने बाल-जीवन को सैकड़ों दास-दासियों के बीच बड़े प्यार से बिताया था। ब्राह्मण की गृहस्थी। आए दिन अभावों की कमी नहीं। वृहत् परिवार में आज अन्न नहीं है तो कल वस्त्र की चिन्ता है। और जमदग्नि ऐसे मनस्वी कि अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन को छोड़कर वह स्वर्ग की दिव्य सम्पत्ति भी हाथ से छूना नहीं चाहते थे। रेणुका की इच्छा थी कि समय-समय पर अपने पिता से कुछ लेकर वह अपनी गृहस्थी के प्रतिदिन के अभावों को दूर करती रहे किन्तु जमदग्नि के संग रहकर वह ऐसा कभी नहीं कर सकती थी। दूसरों की धन-सम्पदा का उपभोग जमदग्नि की तपःपूत दृष्टि में जहाँ नरक के द्वार के समान था वहीं रेणुका अपने-पिता की धन-सम्पदा में अपना भी भाग मानकर उसका सुखपूर्वक उपभोग करने में पाप नहीं देखती थी। बहुत दिनों तक रेणुका और जमदग्नि का यह दृष्टि-भेद बिना किसी विरोध और बाधा के निभता रहा किन्तु ज्यों-ज्यों रेणुका की कठिनाइयाँ बढ़ती गईं, अवस्था ढलती गई, पुत्रों की संख्या पांच हो जाने के कारण अन्न-वस्त्र की समस्या जटिल होती गई, त्यौं-त्यौं वह पति के पवित्र विचार में मिथ्या दम्भ का आवरण मानने लगी और मन ही मन अपने अभाग्यपूर्ण जीवन पर कभी कभी आंसू भी बहाने लगी।

जमदग्नि ऋषि थे। सूक्ष्म व्यापक ब्रह्म को देखनेवाली उनकी तेजस्विनी आंखों से रेणुका के मनोभाव छिपे नहीं रह सकते थे। उन्होंने अनेक बार रेणुका को समझा-बुझाकर सन्मार्ग पर लाने का उद्योग भी किया, किन्तु रेणुका में राजसी वृत्ति की प्रधानता थी, वह पति के कल्याणकारी उपदेशों में भी उनके दम्भ के स्वर को ही विद्यमान समझती रही। ऊपर-ऊपर से चुप रहकर वह भीतर-भीतर से उनके प्रति विरक्त होती जाती। और धीरे-धीरे ऐसी विषम स्थिति उत्पन्न होने

लगी कि जमदग्नि और रेणुका के हृदय पृथक् हो गए। पति-पत्नी के हृदय की सुकुमार प्रेम की बल्लरी सूख गई, उसकी कलियाँ मुरझाकर गिर पड़ीं और मनोरथ के सुमन धूल में मिल गए। एक का दूसरे के प्रति वैराग्य बढ़ता गया और अन्ततः एक दिन ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि परम विचारवान् जमदग्नि को स्त्री के रूप में रेणुका का जीवित बना रहना अत्यन्त असह्य हो गया। वे अपने प्रचण्ड क्रोध से ऐसे उद्दीप्त हो गए कि अपने बड़े पुत्र को तत्क्षण बुलाकर उन्होंने यह आज्ञा दे डाली—

—'बेटा! तुम शीघ्र ही रेणुका का जीवन समाप्त कर मुझे सुखी करो। मैं उसका अब मुँह भी नहीं देखना चाहता।,

जमदग्नि का ज्येष्ठ पुत्र अपने परम विवेकी और गंभीर पिता के इस क्रोधान्ध स्वभाव से कभी परिचित नहीं हुआ था। वह किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर थोड़ी देर तक चुपचाप खड़ा ही रह गया। किन्तु जमदग्नि की वाणी में तो उस दिन अग्नि की ज्वाला ने अपना स्थान बना लिया था। वह स्थिर नहीं रह सकते थे। उन्होंने गरजते हुए अपने दूसरे पुत्र से रेणुका का शिर तत्क्षण काट डालने का क्रूर आदेश पुनः दे दिया। किन्तु पुत्र राक्षस भी हो तब भी मां उसे प्यारी होती है। जमदग्नि के द्वितीय पुत्र ने भी कियत्क्षणों तक हतप्रभ होकर पिता की अवज्ञा का पाप किया। असहिष्णु जमदग्नि ने तीसरे पुत्र पर अपनी विकराल दृष्टि डाली। वह पहले ही से अवसन्न खड़ा था। उसने भी पिता की इस क्रूर आज्ञा का पालन न कर चुपचाप नीचे दृष्टि किए हुए खड़े रहने ही में अपना कल्याण समझा। फिर तो निरुपाय जमदग्नि ने झट से अपने चतुर्थ बेटे पर दृष्टि डाली, किन्तु वह तो पहले ही से परशुराम की बगल में छिपने का प्रयत्न कर रहा था। पिता की इस कठोर आज्ञा का पालन करने में वह भी असमर्थ ही रहा। अब बच गए थे जमदग्नि के पाँचवे पुत्र वीरवर परशुराम, जो वहीं खड़े-खड़े अपने आगत कठोर कर्त्तव्य की मीमांसा कर रहे थे।

पिता का यह क्रूर आदेश पाते ही उनका शरीर चंचल हो गया और उन्होंने विद्युत् वेग से बिना किसी गंभीर विचार को स्थान दिए ही अपने विकराल परशु से अपनी माता रेणुका के शिर को काट कर धड़ से अलग कर दिया। यह कठिन दृश्य देखकर धरती काँप गई और भगवान् भास्कर को भी मुँह ढकने के लिए आकाश में ठौर नहीं मिली।

विचित्र स्थिति थी। स्वयं जमदग्नि को भी अपने इस विकराल क्रोध पर अब पश्चात्ताप हो रहा था। कुछ क्षण बीते। रेणुका का निश्चेष्ट शरीर और उससे निकल कर उनके तपोमय आश्रम को वीभत्स बनाने वाला रक्त-प्रवाह संसार की एक अनहोनी दुर्घटना के रूप में उनके मस्तिष्क और हृदय पर छा गया। उनके चारों पुत्र भयकातर दृष्टि से पृथ्वी में जगह पाने की असफल चेष्टा कर रहे थे और परशुराम स्वयं चकित थे कि उन्होंने पिता के आदेश-पालन के रूप में कैसा कठोर कर्म कर डाला। जमदग्नि स्तम्भित भाव से किंचित् क्षण चुप रहे किन्तु इससे आगे चुप रहना अनुचित था। अपने अवज्ञाकारी चारों पुत्रों की तीव्र भर्त्सना करते हुए उन्होने अपने प्रचण्ड शाप के द्वारा उन्हें पशु बना दिया और अपने उत्कट आज्ञाकारी पुत्र परशुराम का हार्दिक अभिनन्दन करते हुए उन्होंने उन्हें अपने गले से लगा लिया।

परशुराम पिता की आज्ञा का पालन कर जहाँ परम प्रीत थे वहीं ममतामयी माता की नृशंस हत्या से अत्यन्त भयभीत भी थे। उनका दृढ़ शरीर कुछ विकंपित था और मुखमण्डल से स्वेद-प्रवाह भी चल रहा था। ऐसी जटिल क्रूर परिस्थिति में भी पिता के इस अयाचित आलिंगन का उन्होंने विचित्र अनुभव किया। वे कुछ सोच भी नहीं पा रहे थे कि इसी बीच विस्खलित वाणी में उनके पिता जमदग्नि स्वयं बोल पड़े—

—'बेटा! तुमने अपने क्रोधान्ध पिता की आज्ञा का पालन जिस

उत्तम ढंग से किया है, वह संसार में अनुपम है। मैं तुम पर परम प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे जो भी वरदान माँगना चाहो, मांग लो।'

परशुराम धीर गंभीर बन गए थे। इस विकट परिस्थिति में भी वह बहुत विचलित नहीं थे। अपने साधक पिता के वरदान का यह अवसर उन्हें परम मांगलिक जान पड़ा। वे तत्क्षण बिना किसी विकल्प के सहज भाव से बोल पड़े—

'पूज्य तात ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरी माता को पुनर्जीवन दान कीजिए और मेरे ज्येष्ठ भाइयों को पूर्ववत् सुबुद्ध मानव बनाइये। इन दोनों कार्यों से बढ़कर इस संसार में मेरी कोई दूसरी अभिलाषा नहीं है।'

जमदग्नि का विषण्ण मुखमण्डल सस्मित हो उठा। परशुराम की सामयिक सूझ का उन्होंने मन ही मन अभिनन्दन किया और प्रसन्न स्वर में 'एवमस्तु' कहते हुए परशराम से कोई ऐसा दूसरा भी वरदान माँगने का अनुरोध किया, जिससे उनका भी कल्याण हो। परशुराम ने सहज भाव से करबद्ध निवेदन किया—

—'मेरे पूज्य तात ! यदि ऐसा ही है तो मैं चाहता हूँ कि मेरी माता को अपने वध का यह अप्रिय पसंग कभी स्मरण न हो और मुझे भी इस लोक-विनिंदित मातृ-वध का पाप न लगे।'

जमदग्नि ने परशुराम की यह अभिलाषा भी पूर्ण की किन्तु उन्हें ऐसा लगा कि अब भी परशुराम को उनके दुस्साहसपूर्ण कार्य के अनुरूप उचित वरदान नहीं मिला है, अतः उन्होंने परशुराम से फिर कोई तीसरा वरदान भी माँगने का स्नेहपूर्ण अनुरोध किया।

परशुराम इस बार खुले। उन्होंने विनय भरे स्वर में निवेदन करते हुए कहा—

—'पूज्य तात। मैं चाहता हूँ कि मैं अमर होऊँ और संसार में कोई भी वीर कभी मेरा सामना न कर सके।'

जमदग्नि परम प्रसन्न हुए। उन्होंने गद्गद वाणी में कहा—

'वत्स ! इसका वरदान तो तुम्हें शङ्करजी से मिल ही चुका है, किन्तु मैं भी इसकी पुनरावृत्ति कर देता हूँ। तुम अमर रहोगे और संसार में कोई भी वीर तुम्हारा सामना कभी नहीं कर सकेगा।'

परशुराम के तीनों वरदान फलित हुए। उनकी माता रेणुका पुनः जीवित हो गईं और वरदान की महिमा से उन्हें इस दुर्घटना का किंचित् मात्र भी स्मरण नहीं रहा। यही नहीं, इस पुनर्जीवन लाभ के अनन्तर वे जमदग्नि की प्राणवल्लभा बन गईं। उनके अतीत जीवन के सारे राजसी राग-द्वेष जाने कहाँ भस्म हो गए और वे सब प्रकार से महर्षि जमदग्नि के अनुकूल बन गईं। वरदान की महिमा से परशुराम के सभी भाई भी पूर्ववत् प्रबुद्ध तथा चैतन्य हो गए और उन्हें भी इस दुर्घटना का लेशमात्र भी स्मरण नहीं रहा।

× + ×

ऋषिवर जमदग्नि का जीवन अब सुखपूर्वक बीत रहा था। विविध अभावों से भरी गृहस्थी को रेणुका अब इस लाघव से चला रही थीं कि उसमें विषमता का लेशमात्र अनुभव किसी को नहीं होने पाता था। एक गौ थी, जिसके द्वारा देवताओं और पितरों की सत्क्रियाएँ सम्पन्न होती थीं और चारों बेटे भी अब जमदग्नि का भार उठाने में सक्षम हो गए थे। पाचवें पुत्र परशुराम अब भी गृहस्थी की चिन्ता से मुक्त होकर विचरण करते थे। उनका दैनिक कार्यक्रम मुनियों के समान नहीं था। उनकी साधना का द्वार भिन्न था। वे शस्त्रास्त्रों की शिक्षा के सम्मुख शास्त्रों की शिक्षा को गौण मानते थे और उनके इस दृष्टि-भेद से उनका परिवार परिचित भी था। स्वयं महर्षि जमदग्नि भी कभी परशुराम की मुनिधर्मविरोधिनी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में नहीं बोलते थे और जब कभी भाइयों के बीच में इस विषय को लेकर किसी अप्रिय प्रसंग के छिड़ने का अवसर आता था तो वे बड़ी निपुणता से परशुराम का पक्ष उपस्थित करके उन सब को शान्त कर देते थे। माता की अपने कनिष्ठ पुत्र पर अधिक ममता होती ही है। देवी

रेणुका इस सहज धर्म का अपवाद नहीं थीं। वे परशुराम पर प्राण देती थीं और जीवन में मातृवध जैसा जघन्य कर्म करने के कारण परशुराम स्वयं अपनी माता के लिए अपना सर्वस्व त्यागने को सदैव तैयार रहते थे। परिणाम यह हुआ कि परशुराम को अपनी माता और पिता की इस कृपा-दृष्टि से भी अधिक स्वच्छन्द होने का अवसर लगा। वे दिनानुदिन अपनी राजसी वृत्तियों के मार्ग पर निरंकुश रूप में आगे ही बढ़ते गए।

धीरे-धीरे जमदग्नि के आश्रम में दूर-दूर तक परशुराम के साहस और औद्धत्य की कथाएँ बढ़ने लगीं। उन्हीं दिनों हैहयवंश के दुर्धर्ष राजा कार्त्तवीर्य के पराक्रम की भूमण्डल पर अत्यधिक चर्चा थी! हैहयों की राजधनी माहिष्मती से जमदग्नि का आश्रम बहुत दूर नहीं था। कार्त्तवीर्य का दूसरा नाम अर्जुन भी था। वह इतना प्रचण्ड पराक्रमी तथा निरंकुश शासक था कि लोग उसे सहस्रबाहु के रूप में दुःखपूर्वक स्मरण करते थे। कहते हैं, उसे सहस्र भुजाएँ थीं। उसके सम्मुख युद्ध-क्षेत्र में विपक्षी को क्षण मात्र भी ठहरना कठिन था। इस निरर्गल प्रचण्ड शक्ति ने कार्त्तवीर्य अर्जुन को अत्यन्त आततायी शासक बना दिया था। उसमें विवेक नहीं रह गया था। भगवान दत्तात्रेय का भक्त होकर भी उसमें जीवमात्र के लिए दया नहीं रह गई थी। दैव-दुर्योग से दत्तात्रेय की कृपा द्वारा उसे एक ऐसा स्यन्दन मिला था, जो जल, स्थल और आकाश में सर्वत्र समान रूप से विचरण कर सकता था। अपने इस अलौकिक शक्ति सम्पन्न स्यन्दन, सैन्य शक्ति तथा दुर्धर्ष पराक्रम के द्वारा अर्जुन में भूमण्डल को तहस-नहस कर डालने की अद्वितीय शक्ति थी और वह आए दिन अपनी इस अनन्य दुर्लभ शक्ति का प्रदर्शन भी खूब करता था। कहते हैं समुद्र की लहरें भी कार्त्तवीर्य का भय करती थीं और वायु के वेग को भी उसके यशःसौरभ को वहन करना पड़ता था।

निदान जब कार्त्तवीर्य अर्जुन के कानों में परशुराम के अलौकिक

पराक्रम एवं शस्त्रास्त्र-ज्ञान की दुःखद चर्चा पहुँची तो वह क्षण भर के लिए भी अपने को सँभाल नहीं सका। अपने अनुगामियों के संग वह जमदग्नि के आश्रम में जा पहुँचा और वहाँ परशुराम को अपना पराक्रम आकर दिखाने का आह्वान किया। किन्तु संयोग की बात। उस दिन जमदग्नि के आश्रम में न तो परशुराम ही थे और न उनके चारों बड़े भाई ही। महर्षि जमदग्नि और रेणुका ने कार्त्तवीर्य के रोष को शान्त करने के बहुतेरे उपाय किए किन्तु वह इतना क्रूर तथा दुराग्रही स्वभाव का था कि इन लोगों की सभी चेष्टाएँ विफल रहीं। उनके द्वारा प्रदत्त स्वागत-समादर को ठुकरा कर उसने उनके आश्रम को तोड़-फाड़ कर तहस-नहस कर डाला और प्रस्थान के समय परशुराम को अपना पराक्रम दिखाने का अवसर देने के लिए जमदग्नि और रेणुका की परम प्रिय संगिनी गाय को भी अपने संग छीन कर लेता गया।

भाइयों समेत परशुराम जब अपने पिता के आश्रम में वापस आए तो कार्त्तवीर्य अर्जुन की अपमान भरी करतूतों को सुनकर विचलित हो गए। अपने अपराजेय पराक्रम एवं शस्त्रास्त्र ज्ञान की शक्ति को प्रदर्शित करने का ऐसा कठोर अवसर समीप है—इसकी उन्होंने कभी तैयारी भी नहीं की थी। अपमान और अमर्ष की इस भयंकर दुर्घटना को एक क्षण के लिए भी सहन करना, उनके वश में नहीं था। माता, पिता तथा भाइयों के स्नेहपूर्ण आग्रह की कोई चिन्ता न कर वे तुरन्त अपने परशु के संग कार्त्तवीर्य की राजधानी माहिष्मती के पथ पर विद्युत् वेग से आगे चल पड़े।

कार्त्तवीर्य अभी मार्ग में ही था। उसे भी परशुराम के इतने शीघ्र युद्धार्थ उपस्थित होने की आशा नहीं थी। अपने अनुगामियों के संग वह किसी सुखद प्रसंग पर चर्चा करते हुए आगे बढ़ रहा था कि पीछे से उसे परशुराम की घन-गर्जना सुनाई पड़ी। वह कह रहे थे—

'नराधम! मेरी अनुपस्थिति में चोरों के समान जाकर तूने

मेरे आराध्य माता-पिता का जो अपमान किया है उसका परिणाम भोगे बिना अब तेरा निस्तार नहीं है। खड़ा हो जा, यदि तुझमें कुछ शक्ति है तो।'

परशुराम की यह कर्कश वाणी कार्त्तवीर्य के अन्तस्तल को विदीर्ण करती हुई आकाश को गुँजाने लगी। कार्त्तवीर्य और उसके साथियों को स्वप्न में भी इस बात का अनुमान नहीं था कि इस धरती पर इस प्रकार के क्रूर-कठोर शब्दों को प्रयुक्त करनेवाला कोई वीर कभी पैदा होगा। वे मर्माहत होकर परशुराम के ऊपर एक संग ही टूट पड़े। किन्तु वीरवर परशुराम ने देखते ही देखते कार्त्तवीर्य और उसके अनुगामियों के छक्के छुड़ा दिए। वह नितान्त एकाकी तथा एक ही शस्त्र से युद्ध कर रहे थे, जब कि उन पर प्रहार करनेवालों की संख्या सैकड़ों में थी। अत्यन्त भयंकर युद्ध हुआ और परशुराम ने अपने परम प्रचण्ड तथा अलौकिक पराक्रम की अग्नि में कार्त्तवीर्य को भस्म कर दिया। उसके उद्धत अनुगामियों का संहार कर उन्होंने अपने उसी प्रचण्ड परशु से कार्त्तवीर्य की सहस्रों कुख्यात भुजाओं को काट डाला, जिन्होंने अतीत में भूमण्डल को भयभीत कर रखा था। अपनी राजधानी से दूर त्रिभुवनविख्यात कार्त्तवीर्य की अनाथों के के समान मृत्यु हो गई। कृतार्थ परशुराम भी यद्यपि इस युद्ध में अत्यन्त आहत हो चुके थे तथापि अपने प्रथम विजय की प्रसन्नता में उन्हें अपने आघातों की चिन्ता नही थी। अपने रक्तरंजित परशु को लेकर वे अपने आश्रम को वापस लौट आए और अपने चिन्ताकुल माता-पिता तथा भाइयों को अपनी विजय की सूचना देते हुए विनत भाव से प्रणाम किया।

महर्षि जमदग्नि, रेणुका तथा परशुराम के चारों भाइयों ने उनका हार्दिक अभिनन्दन किया और उनकी इस अप्रत्याशित विजय पर उन्हें बधाई दी। परशुराम ने प्रथम बार अनुभव किया कि आशुतोष शंकर की कठोर आराधना निष्फल नहीं हुई और अपने पिता की

कठोर आज्ञा का पालन कर उन्होंने जो पुण्य अर्जित किया था, वह भी सफल हुआ। अपने परिवार की प्रसन्नता में घुल मिल कर वे अपना सारा परिश्रम भूल गए और दो ही चार दिनों में उनके शरीर के आघात भी सूख कर अच्छे हो गए।

उधर कार्त्तवीर्य अर्जुन की मृत्यु का दुःसंवाद जब माहिष्मती नगरी में पहुँचा तो राजधानी के सभी नर-नारी शोकाकुल होकर रुदन करने लगे और राज-परिवार में हाहाकार मच गया। धरती पर परशुराम के इस उत्कट पराक्रम की यशोगाथा थोड़े ही दिनों में फैल गई और सर्वत्र उनकी कीर्ति-कौमुदी का पावन प्रकाश छिटक गया। अपने शोक-संवेग को कुछ दिनों तक छिपाकर कार्त्तवीर्य के पुत्रों ने परशुराम से अपने पिता का बदला चुकाने का दृढ़ निश्चय किया। वे यह तो जान ही चुके थे कि प्रत्यक्ष युद्ध में परशुराम से पार पाना असंभव है अतः वे रात-दिन इसकी ताक में रहने लगे कि जब कभी परशुराम अपने आश्रम से बाहर हों तब उनके भाइयों तथा उनके पिता को मार कर उनसे अपने वैर का निर्यातन किया जाय।

संयोग की बात। एक दिन ऐसा ही हुआ। परशुराम आश्रम में नहीं थे और उनके भाई भी कहीं बाहर गए हुए थे कि इसी बीच कार्त्तवीर्य के आततायी पुत्रों ने जमदग्नि के आश्रम पर आक्रमण कर दिया और हिंसक जन्तु के समान जमदग्नि के शरीर को काट काट कर टुकड़े-टुकड़े कर डाले। मृत्यु के समय जमदग्नि ने कई बार 'हा राम!' 'हा राम!' कह कर परशुराम का स्मरण किया किन्तु परशुराम तो अपने आश्रम से बहुत दूरी पर थे। जमदग्नि की नृशंस हत्या कर अर्जुन के पुत्रों ने उनके आश्रम को भी भस्म कर डाला और जहाँ पर कुछ ही क्षण पूर्व अग्निहोत्र की पावन धूम्र रेखा से आकाश विमंडित हो रहा था वहीं पर श्मशान की भाँति चतुर्दिक व्याप्त भयंकर दृश्यों से समूची भूमि अशोभन हो रही थी।

परशुराम को मध्य मार्ग में ही अनेक अपशकुन हुए, जिन्हें देख

कर वे समझ गए कि कोई न कोई भयंकर दुर्घटना अवश्य घटित होगी। इसी संकल्प-विकल्प में पड़कर वे बड़ी द्रुत गति से अपने आश्रम को वापस आ ही रहे थे कि आश्रम से अनतिदूर पर ही उन्हें कार्त्तवीर्य के पुत्रों के दुष्कृत्यों की सूचना मिल गई। परशुराम क्रोध से उन्मत्तवत् हो गए और अपने आराध्य पिता के गुणों का स्मरण करते हुए उच्च स्वर में करुण-क्रन्दन करने लगे। परशुराम के ये आंसू हैहयों के विध्वंसक स्फुलिंग थे। धरती काँप गई और चराचर में यह आतंक व्याप्त हो गया कि परशुराम के इस असहनीय अमर्ष की ज्वाला में जले बिना कोई छूट नहीं सकता।

अपने पिता की औध्र्वदेहिक क्रिया से जब परशुराम को अवकाश मिला तो वे पुनः पूर्ववत् क्रोधान्ध बन गए। अपने शरीर की चिन्ता छोड़कर वे हैहयों की राजधानी की ओर तूफान की तरह चल पड़े। हैहयों के समूल विनाश की प्रतिज्ञा पूरी किए बिना अन्न-जल ग्रहण करना भी परशुराम को स्वीकार नहीं था। भाइयों तथा माता के दुराग्रहों से भी वे अपने कठोर कर्त्तव्य पथ से विचलित नहीं हो सके।

माहिष्मती में परशुराम के अभियान का दुःसंवाद जिस समय पहुँचा उस समय सब को अपने शिर पर काल-चक्र घूमता हुआ दिखाई पड़ा। किन्तु जीवन की आहुति दिए बिना परशुराम की इस क्रोधाग्नि से बचना असंभव था। सब ने समवेत रूप से युद्ध में परशुराम का सामना करने का दृढ़ निश्चय किया किन्तु परशुराम तो अजेय होने का उत्कट वरदान प्राप्त कर चुके थे। उन्हें पराजित करने की शक्ति अब स्वयं विधाता में भी नहीं थी। थोड़े ही दिनों में परशुराम ने हैहयों का सकुल विनाश कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और तदनन्तर अन्न-जल ग्रहण किया।

किन्तु परशुराम की इस विजय का संवाद उस समय के राजाओं तथा राजन्य वर्गों के लिए अत्यन्त दुःखदायी रहा। कार्त्तवीर्य अर्जुन तथा हैहय राजवंश के जितने मित्र अथवा सम्बन्धी थे, उन सब के

साथ भी परशुराम का सहज वैर ठन गया और एक-एक कर परशुराम ने सब का सफाया कर डाला। कहा जाता है कि इस युद्ध के अनन्तर परशुराम क्षत्रिय जाति मात्र के सहज शत्रु बन गए और भूमण्डल पर ढूँढ़ ढूँढ़ कर क्षत्रियों का सकुल संहार ही उनके जीवन का ध्येय बन गया। यद्यपि वे स्वयं क्षत्रिय रक्त से सम्पृक्त थे क्योंकि उनकी माता रेणुका क्षत्रिय राजा की कन्या थीं और उनके पिता जमदग्नि का जन्म भी क्षत्रिय राजा गाधि की कन्या और विश्वामित्र की बहिन सत्यवती से हुआ था तथापि अपने पिता की नृशंस हत्या के कारण वे इतने विक्षुब्ध थे कि अपने इस क्रूर निश्चय पर पुनर्विचार करना उनके लिए असंभव था।

परशुराम की प्रचण्ड क्रोधाग्नि अनेक वर्षों तक धुआंधार जलती ही रही। बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों एवं महापुरुषों ने उन्हें प्रकृतिस्थ करने का असफल प्रयत्न किया। यह सर्वसामान्य विश्रुति है कि परशुराम इतने क्रोधान्ध बन गए थे कि उन्होंने इक्कीस बार समस्त भूमण्डल की यात्रा की और जहाँ कहीं उन्हें क्षत्रिय दिखाई पड़े, बाल वृद्ध का विचार किए बिना ही उन सब का संहार किया। गिरि-गह्वरों एवं दुर्गम नदी-नदों की घाटियों में जो क्षत्रिय छिप गए थे, उनके प्राण तो भले ही बच गए किन्तु उनकी विकराल दृष्टि के सामने पड़ने वाला कोई क्षत्रिय नहीं बचा।

इस प्रकार क्षत्रिय राजाओं के समूल संहार के अनन्तर परशुराम पृथ्वी के एकच्छत्र सम्राट् बन गए, किन्तु उनमें साम्राज्य का सिंहासन पद प्राप्त करने की तनिक भी इच्छा नहीं थी। अतः इस राजन्य विहीन पृथ्वी को उन्होंने दान देने के लिए एक अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन किया। यह यज्ञ कोई सम्राट ही कर सकता था। परशुराम ने इस यज्ञ में समूची पृथ्वी यज्ञ के आचार्य महर्षि कश्यप को प्रदान कर दी।

कश्यप दूरदर्शी ऋषि थे। दक्षिणा में प्राप्त समूची पृथ्वी का पालन एवं रक्षण करना उनके वश की बात नहीं थी, इसके लिए

किसी राजा की ही आवश्यकता थी। वे जानते थे कि अनेक दुर्गम दूर प्रदेशों में अनेक राजा छिपे पड़े हैं, जो परशुराम के भय से बाहर नहीं आना चाहते। अतः कश्यप ने अश्वमेध यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के अनन्तर परशुराम को आदेश दिया कि—'अब आप सीधे दक्षिण पथ की यात्रा कर समुद्र के तट पर चले जायँ, क्योंकि जब समूची पृथ्वी का दान दे चुके हैं तो प्रदत्त वस्तु का उपभोग करना पाप है।'

परशुराम कश्यप के मंतव्य को न जानते रहे हों, यह बात नहीं थी, किन्तु वे सत्यप्रतिज्ञ वीर पुरुष थे। उन्होंने चुपचाप कश्यप की आज्ञा का पालन किया और दक्षिण पथ की यात्रा कर दक्षिण समुद्र के तट पर अपना आश्रम बनाने का निश्चय किया। परशुराम को अपने तट पर अवस्थित देखकर समुद्र ने उनका सघोष अभिनन्दन और जयगान किया और उनके निर्देश पर उन्हें अपने भीतर की भूमि का एक नूतन-उत्तम खण्ड प्रदान किया, जो सूप के आकार का होने के कारण शूर्पाकार द्वीप के नाम से परशुराम के आश्रम के रूप में विख्यात हुआ। परशुराम वहीं पर शान्ति और सुख से अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

इधर राजन्य विहीन पृथ्वी की भयंकर दुर्दशा थी। दण्ड के भय से रहित होने के कारण उसमें सर्वत्र अराजकता छाई हुई थी। चोरों, डाकुओं, व्यभिचारियों और उचक्कों की बन आई थी। प्रजा वर्ग में हाहाकार मचा हुआ था। जो बलवान थे वे निर्बलों की धन-सम्पदा और इज्जत को दिन-दहाड़े लूट लेते थे। कोई रक्षक, नियंत्रक और दण्ड देने वाला था नहीं। यह अत्याचार थोड़े ही दिनों में इतना बढ़ गया कि पृथ्वी रसातल को जाने लगी। कहा जाता है कि पृथ्वी को इस विपदा को दूर करने के लिए महर्षि कश्यप ने उसे अपनी जांघों पर थाम लिया। वह कुछ आश्वस्त हुई और विनीत स्वर में उसने कश्यप से अपने उद्धार का मार्ग बतलाया। कश्यप यही तो चाहते भी थे, क्योंकि बहुत खोजने-ढूँढने पर भी उन्हें किसी राजा का

पता नहीं लग रहा था। राजा लोग परशुराम के दक्षिण चले जाने पर भी इस बात से डरते थे कि आखिर यह कश्यप भी तो ब्राह्मण ही हैं। कहीं हम लोगों के प्रकट हो जाने पर परशुराम को यदि किसी तरह सूचना मिल जायगी तो हम कहीं के न रहेंगे।

निदान पृथ्वी की सूचना पर महर्षि कश्यप ने बड़े-बड़े आश्वासन और विश्वास दिला कर कुछ छिपे हुए राजपुत्रों को राजकाज करने के लिए उनके गुप्त-स्थलों से बाहर निकाला। ऋक्षवान् पर्वत की गुफा में छिपे हुए महाराज विदूरथ के पुत्र को बुलाया गया जिनका पालन-पोषण ऋक्षों ने किया था। महर्षि पराशर के संरक्षण में छिपे हुए महाराज सौदास के पुत्र सर्वकर्मा को बुलाया गया। महाराज शिवि के पुत्र गोपालों के वेश में गौओं का चारण कर अपनी जीवन-रक्षा कर रहे थे, उन्हें भी बुलाया गया। महाराज दिविरथ के पुत्र का लालन-पालन गुप्त रीति से स्वयं महर्षि गौतम कर रहे थे, उन्हें भी बुलाया गया। महाराज बृहद्रथ के एक पुत्र की प्राण-रक्षा गृध कूट पर्वत की एक गुफा में कुछ लंगूर कर रहे थे, उसे भी बुलाया गया। समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों में छिपे हुए महाराज मरुत्त के अनेक वंशजों को सादर बुलवाया गया और इन सब के बीच में समूचे भू-मण्डल का बटवारा कर के उन्हें वहाँ का राज-काज सौंप दिया गया।

ऋषियों, महर्षियों तथा मुनियों ने इन सभी राजाओं के संग भूमण्डल की रक्षा के प्रयत्नों में हार्दिक सहयोग प्रदान किया, जिससे थोड़े ही दिनों में पृथ्वी का शासन-सूत्र यथाविधि पूर्ववत् संचालित होने लगा। दुष्ट-दुरात्माओं के आतंक दूर हो गए तथा शिष्ट-सज्जनों की आचार-परम्पराएं चालू हो गई। महर्षि कश्यप ने बड़ी बुद्धिमत्ता तथा सूझबूझ से पृथ्वी की रक्षा की। उन्होंने अपनी बलवान जाँघों से पृथ्वी की रक्षा की थी अतः पृथ्वी का ऊर्वी नाम पड़ा।

× × ×

बहुत दिनों बाद पृथ्वी पर जब क्षात्र-धर्म का अभ्युदय पूर्ववत् हो गया और सर्वत्र क्षत्रिय राजाओं तथा महाराजाओं की वंश-परम्पराएं फलने-फूलने लगीं तो परशुराम एक बार फिर कुछ उत्तेजित हुए। किन्तु कश्यप को दान की गई पृथ्वी पर उनका अब कोई अधिकार नहीं रह गया था। त्रेता युग में कौशलेन्द्र दशरथ के पुत्र रामचन्द्र ने जब मिथिला में विश्वविख्यात शिव धनुष को तोड़ दिया तो परशुराम अपने को सँभाल नहीं सके। एक क्षत्रिय-पुत्र के इस अलौकिक पराक्रम की असहिष्णुता से वे इतने उत्तेजित हो उठे कि तत्काल मिथिला पहुँच गए। किन्तु वहाँ उन्हें शीघ्र ही यह ज्ञात हो गया कि श्रीरामचन्द्र कोई सामान्य पुरुष नहीं है। साक्षात् मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और भगवान् विष्णु के अंशभूत हैं। रामचन्द्र जी के सम्मुख नतशिर होकर परशुराम ने जीवन में प्रथम बार अपनी पराजय का अनुभव किया। किन्तु इस पराजय में भी उनकी विजय छिपी हुई थी। क्योंकि जिन भगवान् के चरण-कमलों का दर्शन पाने के लिए ऋषि मुनि योगी-यती जन्म-जन्म तपस्या करते हैं वे स्वयं परशुराम के सम्मुख विद्यमान थे।

रामचन्द्र जी के दर्शन के अनन्तर अभिमानी परशुराम का गर्व विगलित हो गया और वे शान्त चित्त होकर अपने आश्रम को पुनः वापस लौट गए।

सप्तर्षियों की परीक्षा

प्राचीन काल में एक बार सारस्वत प्रदेश में भीषण अकाल पड़ा था लगातार बारह वर्षों का अवर्षण रहा। अपने समय पर प्रतिवर्ष वर्षा ऋत आती, बड़ी उत्कण्ठा और आशा से उसकी प्रतीक्षा की जाती और कभी-कभी घन घोर घटाएँ आकाश को छा भी लेतीं और ऐसा ज्ञात होता मानों अब जल के साथ ही धरती का दुःख-दारिद्र्य बह जायगा, किन्तु प्रचण्ड वायु के झकोरों से मेघमण्डल छिन्न-भिन्न हो जाता और आकाश फिर नीला का नीला रह जाता। प्रभात के सुस्वप्न के समान लोग उसका स्मरण कर चिन्तित होते, किन्तु एक बूंद भी धरती पर न आती। भयंकर हाहाकार मचा हुआ था। बड़े बड़े सरोवर, तालाब और पर्वतीय-ह्रद सूख गए, समुद्रगामिनी नदियों में भी जल नहीं रह गया। पाताल तक खोदे गए कूपों में भी कभी जल मिलता, कभी न मिलता। अन्न की तो बात ही दूर, घास और चारे के अभाव में देश का सम्पूर्ण पशुधन नष्ट हो गया, वन्य-सम्पत्ति सूख कर ध्वस्त हो गई। अन्न और जल के अभाव में लाखों प्राणी बिलख-बिलख कर मर गए। माता ने अपने हृदय के टुकड़े को मुरझाकर सूखते हुए देखा और युवा पुत्रों ने वृद्ध माता-पिता के अनाहार के कारण होनेवाली करुण मृत्यु का सामना किया।

इस घोर अवर्षण ने धरती की हरीतिमा और सरसता को ही नहीं नष्ट किया था, प्रत्युत प्राणियों की पारस्परिक सद्भावना, सहृदयता और सहानुभूति को भी सुखा दिया था। लोगों को अपने-अपने प्राणों की ही चिन्ता थी। जब लोग निराश हो गए और यह समझ गए कि इस अवर्षण और अकाल की छाया से मुक्ति मिलना संभव नहीं है तो सारस्वत प्रदेश के लोग अपनी प्यारी जन्मभूमि छोड़-छोड़कर

जीविका की तलाश में चतुर्दिक भाग खड़े हुए। जो लोग बच रहे थे, वे किसी प्रकार शरीर की रक्षा करते हुए सुभिक्ष प्रदेश की तलाश में व्याकुल होकर भटकने लगे। किन्तु अकाल की यह भयावनी छाया केवल सारस्वत प्रदेश में ही नहीं थी, उसका प्रभाव समीपवर्ती प्रदेशों पर भी पड़ा था। यद्यपि वहाँ इतना अवर्षण नहीं था, कुछ न कुछ अन्न पैदा हो रहा था, समय समय पर कुछ न कुछ वृष्टि भी हो जाया करती थी तथापि लोगों में असन्तोष और तृष्णा का प्राबल्य था। अन्न रखकर भी लोग भविष्य की आशंका से चिन्तित रहते थे और दान, दया, धर्म और परोपकार की भावना को छोड़ चुके थे। लाखों लाखों की संख्या में आनेवाले क्षुधार्तों की दयनीय भीड़ को देखकर धीरवान भी चिन्तातुर हो जाते और दो चार भूखों की तृप्ति कराने की क्षमता रखकर भी विचलित हो जाते।

इस प्रकार समस्त भारत भूमि सारस्वत प्रदेश की इस अकाल ग्रस्त विभीषिका से संत्रस्त था। शासन की शक्तियाँ अशक्त हो चुकी थीं और ब्रह्मज्ञानियों तथा पण्डितों की विद्या-बुद्धि भी कुण्ठित हो चुकी थी। यज्ञों की महिमा क्षीण हो गई थी और धरती पर नग्न स्वार्थ एवं उदर पोषण की दुश्चिन्ता के सम्मुख देवी-देवताओं की महिमा अखर्वित नहीं रह गई थी। वेदों एवं शास्त्रों की मर्यादा क्षुण्ण हो गई थी तथा इहलोक की विपदाओं ने परलोक की सत्ता और महत्ता को क्षीण कर दिया था।

विपत्तियों की बाढ़ जब सीमा से ऊपर हो जाती है तो विद्वान्, बुद्धिमान्, नीतिमान्, ज्ञानी-विज्ञानी और तत्त्वान्वेषी भी उसमें छिप जाते हैं। किसी में कोई अन्तर नहीं रह जाता। सारस्वत प्रदेश की इस भयंकर विपदा में बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों एवं ब्रह्मज्ञानियों का ज्ञानगौरव भी गल गया। शास्त्रचिन्ता और ब्रह्म-विवेचन के स्थान पर उदरचिन्ता और अन्न-अन्वेषण की समस्या ने सब को समान रूप से विचलित कर दिया। पहले जहाँ आदिशक्ति भगवती की सत्ता को

सर्वश्रेष्ठ मानकर उनकी पूजा-अर्चा की जाती थी वहीं क्षुधा की शक्ति के सम्मुख बड़े-बड़े साधकों को भी शिर झुकाना पड़ गया। आखिर कार फलाहार और पत्राहार को भी जब गुंजाइश नहीं रह गई तो साधक बेचारे ही क्या करते ? जल के बिना भी तो जीवन का क्रम नहीं चल सकता था।

इस प्रकार जब सब के धैर्य की परीक्षा हो चुकी और सभी ज्ञानी-विज्ञानी विह्वल होकर सारस्वत प्रदेश की सीमा से दूर चले गए तो सप्तर्षियों का भी अपनी इस प्यारी साधना भूमि से भागने के लिए विवश होना पड़ा। किन्तु उनकी जीवन-दृष्टि इन कठिनाइयों में पड़ कर भी अभी उतनी नहीं बदली थी। जगत् की नश्वरता का जो विवेचन वे अनेक शारीरिक यातनाओं के बाद कर चुके थे, उसको मिथ्या बनाने का कोई कारण उन्हें अब भी नहीं दिखाई पड़ता था। क्षुधा और पिपासा से इन्द्रियों के अशक्त होने पर भी उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित थी और धैर्य अविलुप्त था। सारस्वत प्रदेश को छोड़कर वे दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े और अनेक दिनों की यातनापूर्ण यात्रा के अनन्तर विदर्भराज वृषादर्भि की राजधानी में पहुँचे।

राजा वृषादर्भि के राज्य में सुभिक्ष था। दूर देश होने के कारण वहाँ सारस्वत प्रदेश के क्षुधार्तों की भीड़ अधिक नहीं पहुँच सकी थी, किन्तु फिर भी राजा को सारस्वत प्रदेश के निवासियों की कठिनाइयाँ ज्ञात थीं। जब उसे ज्ञात हुआ कि ब्रह्मज्योति की अखण्ड साधना में जीवन-यापन करनेवाले सप्तर्षि गण उसकी राजधानी में आए हुए हैं तो वह परम प्रसन्न हुआ। अपने मंत्रियों एवं पारिषदों समेत राज-भवन से बाहर निकलकर उसने सप्तर्षियों का स्वागत-समादर किया और विनय भरी वाणी में उनसे प्रार्थना करते हुए कहा—

'—मुनिवर ! हमारा और हमारी राजधानी का यह परम सौभाग्य है जो आप लोगों का शुभागमन आज यहाँ हुआ है। निश्चय ही यह हमारे पूर्व जन्मों के सुकृतों का फल हैं। मेरी प्रार्थना है कि अब

आप लोग यहीं निवास करें। आप लोगों के लिए मैं पर्याप्त अन्न, जल, घृत, दुग्ध, रस, औषधि एवं विविध प्रकार के रत्नाभूषण समर्पित करना चाहता हूँ। अब आप को आगे जाने की आवश्यकता नहीं है। आप लोगों का मेरे ऊपर यह परम अनुग्रह होगा, जो मेरी भेंट स्वीकार कर यहीं अवस्थान करने का निश्चय करेंगे।'

क्षुधा एवं पिपासा से व्याकुल तथा परिश्रान्त सप्तर्षियों ने राजा की इस विनय भरी वाणी का तुरन्त कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। वे सभी एक दूसरे का मुख ताकने लगे और एकाध बार राजा तथा उनके सहगामियों की ओर दृष्टिपात कर मुस्कराने लगे। किन्तु जब कुछ क्षण बीत गये तो राजा फिर बोला—

'महामुनि वृन्द! आप लोगों का जीवन हमारे राष्ट्र की अक्षय निधि है। राजा होने के नाते मेरा कर्त्तव्य है कि मैं इस निधि की रक्षा करूँ। आप लोग किसी भी प्रकार का संकोच अथवा विकल्प न करें। राजा के रूप में मैं जो भी वस्तुएँ आप लोगों को समर्पित करना चाहता हूँ, उन पर आप लोगों का भी अधिकार है। आप लोग कृपाकर मेरी प्रार्थना स्वीकार करें। आप लोगों के इस अत्यन्त कृश एवं परिश्रान्त शरीर को देखकर मुझे बड़ा क्लेश हो रहा है। ये वस्तुएँ आप को शारीरिक सुख-सुविधा देंगी और इस प्रकार आप सुसन्तुष्ट चित्त और शान्त हृदय से राष्ट्र की हित-चिन्ता में अधिक योग दान कर सकेंगे।'

सप्तर्षि वृन्द अब भी चुप थे। कुछ क्षण बाद ऋषियों में प्रवक्ता महर्षि अत्रि ने विनय भरी वाणी में राजा से निवेदन किया—'राजन्! आप की इस सद्बुद्धि एवं राष्ट्रचिन्ता ने हमारे सुख को बहुत बढ़ा दिया है, किन्तु हम कर्त्तव्य-बुद्धि से आप के द्वारा प्रदत्त इन सुख-सुविधाओं का उपभोग करने में असमर्थ हैं। हमारे लिए शास्त्रों की कठोर आज्ञा है कि राजा का दिया हुआ दान ऊपर से मधु के समान मधुर जान पड़ता है किन्तु उसका परिणाम विष के समान भयंकर होता है। हम अवश्य क्षुधातुर हैं, कृशकाय हैं, परिश्रान्त हैं

और ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता के उचित पात्र हैं, किन्तु हम ब्राह्मण हैं और मंत्रद्दष्टा ऋषि की पावन उपाधि से ही नहीं सप्तर्षि मण्डल के सदस्य की परमोच्च उपाधि से भी विभूषित हैं अतः हम अपनी मर्यादा और गरिमा का विक्रय नहीं कर सकते महाराज ! जीवन भर की मूल्यवान साधना को संसार के इन मिथ्या-सुखों के मूल्य से हम नहीं बेंच सकते। राजन्! ब्राह्मणों का शरीर देवताओं की आवास-स्थली है। यदि ब्राह्मण का शरीर तपस्या एवं साधना से परिपूत और सन्तुष्ट रहता है तो वह सम्पूर्ण देवताओं को प्रसन्न करता है, किन्तु यदि उसमें राजसी अथवा तामसी वृत्तियों का संग्रह होता है तो देवता-गण उपद्रुत होकर राष्ट्र की क्षति करते हैं। हम सब आप के दिए हुए इन सुख-साधनों का उपभोग करने में असमर्थ हैं। कृपया इसके लिए हमें क्षमा करें और कुछ भी बुरा न मानें।'

विदर्भराज वृषादर्भि को सप्तर्षियों से ऐसी आशा नहीं थी। उनका अनुमान था कि त्रैलोक्य पावन सप्तर्षियों के स्वागत-समादर का यह अवसर बड़े भाग्य से मिला है और इसका वे यथेष्ट सदुपयोग भी करेंगे किन्तु जब अत्रि ने उन्हें कोरा उत्तर दिया तो वे मन मसोस कर रह गए और भीतर के दुःख को दबाकर विनयभरी वाणी में बोले—

'सप्तर्षि वृन्द ! आपकी इच्छा ही हमारा कर्त्तव्य है। किन्तु हमारी राजधानी से इस प्रकार आप लोगों का क्षुधित एवं पिपासित चला जाना बड़े कलंक की बात होगी, अतः हमारी प्रार्थना है कि यदि हमारी दी हुई कोई वस्तु आप नहीं ग्रहण करना चाहते तो राजधानी के किसी सामान्य नागरिक की वस्तु ग्रहण करने में तो आप को कोई आपत्ति नहीं है।'

महर्षि अत्रि असमंजस में पड़ गए। वे कुछ कहना ही चाहते थे कि इसी बीच महामुनि वशिष्ठ ने कहा—'राजन् ! हम लोगों का आरण्यक जीवन गृहस्थों के घर सच्ची शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। ब्राह्मण दिन भर में अपनी साधना तथा तपस्या द्वारा

जितना पुण्यार्जन करता है उसे गृहस्थ अपने दान-मान द्वारा क्षण भर में नष्ट कर देता है। राजा की राजधानी में तो हमें भोजन ग्रहण करने का शास्त्रीय निषेध है। अतः हमारा अनुरोध है कि आप इस विषय में कोई दुराग्रह न करें। अपना दान-मान उन लोगों को दें, जिन्हें इनकी आवश्यकता हो। आपका कल्याण हो, प्रजावर्ग में सुख-शान्ति हो। हम लोग चल रहे हैं।'

मुनिवर वशिष्ठ के इतना कहते ही सप्तर्षि राजा और उनके मंत्रिमण्डल तथा पारिषदों को छोड़कर आगे बढ़ गए। यद्यपि कई दिनों के अनाहार से उनके शरीर बहुत शिथिल और क्षीण हो चुके थे तथापि वे मन्दगति से वन्य प्रान्त को जाने वाले मार्ग पर आगे बढ़ते ही गए।

राजा वृषादर्भि सप्तर्षियों के इस व्यवहार से बहुत कुण्ठित हुए। अपमान और अवहेलना के कारण उनका अन्तरतम जल उठा। आँखें रक्तवर्ण की हो गईं और मुख विवर्ण हो गया। जीवन में ऐसे कटु अनुभव की उन्हें संभावना भी नहीं थी। अपने मंत्रिमण्डल और पारिषदों की ओर एक जलती दृष्टि फेर कर उन्होंने रूक्ष वाणी में अपने मुख्यामात्य को सम्बोधित करते हुए कहा—

'सौम्य ! इन दुरभिमानी सप्तर्षियों ने हमारा जो अपमान किया है, उसका समुचित प्रतीकार तो होना ही चाहिए। क्या ऐसा कोई उपाय आप शीघ्र ही बता सकते हैं ?'

'क्यों नहीं महाराज ! तपस्या से उन्मत्त इन ऋषियों का अभिमान चूर्ण किए बिना हमें भी कल नहीं है। हम शीघ्र ही उचित उपाय करेंगे, आप चिन्ता न करें नाथ !' हाथ जोड़कर बड़े विनीत स्वर में मुख्यामात्य ने कहा।

राजा बोले—'आखिरकार वह कौन-सा उपाय है ? मुझे भी तो उसकी कुछ सूचना होनी चाहिए।' राजा का स्वर अब भी रूखा था, और उसका मुख आवेश से भरा हुआ था।

महामात्य कुछ क्षण चुप रहा। फिर विनय भरे स्वर में करबद्ध बोला—'महाराज! वे ऋषिगण वन्य-प्रान्त में आगे जाकर कुछ न कुछ फल-मूल तो खाएँगे ही। किसी फल में ही यदि सुवर्ण भर कर इन्हें वंचित किया जाय तो अच्छा होगा।'

राजा बीच में ही बोल पड़े। उनका हृदय ईर्ष्याग्नि से जल रहा था—

'ठीक है, बहुत अच्छा होगा। किन्तु वह फल भी कोई ऐसा हो, जो इनके संचित पुण्यों को खर्वित करे। इस समय ये भूख से विह्वल हैं, मार्ग में जो कुछ भी फल-मूल मिलेगा, ये अवश्य ग्रहण करेंगे।'

महामात्य कुछ कहना ही चाहते थे कि एक दूसरे मंत्री ने हाथ जोड़ कर विनय भरे स्वर में कहा—'नाथ! मेरी सम्मति में इन दम्भी ऋषियों को गूलर के पके फलों में सुवर्ण भर कर वंचित किया जाय। गूलर का फल ग्रहण करने से इनके संचित पुण्यों का ह्रास अवश्यमेव होगा।'

राजा वृषादर्भि उक्त मंत्री के इस प्रस्ताव पर परम प्रसन्न हुये। उसकी प्रत्युत्पन्न मति की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा—'बहुत अच्छा! आपकी इस सूझ पर मैं बधाई देता हूँ। महामात्य! तुरन्त इसका आयोजन करें और ऐसा कुछ प्रबन्ध भी करें कि हम आज ही उन पाखण्डी ऋषियों के दम्भ पर उपहास करने का सुखद क्षण प्राप्त कर सकें।'

'जो आज्ञा महाराज! मैं अभी इसका आयोजन करता हूँ। क्षुधा और प्यास से विह्वल इन ऋषियों के वन्य-प्रान्त में पहुँचने के पूर्व ही हमारे दक्ष चर गूलर के पके फलों में सुवर्ण भर कर उनके मार्ग में पड़नेवाले गूलर के वृक्षों के नीचे रख आएँगे।' महामात्य ने सविनय कहा।

राजा को कल नहीं थी, वह एक-एक क्षण को बड़े कष्टों से बिता पा रहा था। अपने नासा-पुटों को विस्तृत कर दीर्घ श्वास

खींचते हुए उसने प्रदीप्त स्वर में कहा—'और यह भी प्रबन्ध करें कि गूलर के वृक्षों की ओट से हमारे गुप्तचर यह देखते रहें कि उन फलों का वे दुरभिमानी ऋषि क्या करते हैं।'

महामात्य बोला—'महाराज! यह तो होगा ही। बिना ऐसा किए हमें पता ही कैसे लगेगा?'

× × ×

राजा वृषादर्भि के सुचतुर मंत्रियों में प्रतीकार की तीव्र भावना तो थी ही। वे राजा के मानसिक उद्वेग को भी समझ रहे थे। उन्होंने तत्काल अपने परम दक्ष चरों को इस कार्य में नियुक्त कर दिया और उन्हें सहेज दिया कि आज ही, जितना शीघ्र हो सके महाराज के समीप इस योजना का सुखद परिणाम आकर प्रकट किया जाय। और खबरदार, इसमें तनिक भी प्रमाद न हो। सभी कार्य ऐसे सुनियोजित और स्वाभाविक ढंग से हों कि सप्तर्षियों को इसका अनुमान भी न हो सके।

चर अनुभवी और दक्ष तो थे ही। महामात्य की आतुर आज्ञा और महाराज की चिन्ता ने उनकी प्रगल्भ चेतना को और भी झकझोर दिया था। उन्होंने समवेत रूप से विश्वास दिलाया कि—'यह हम लोगों का पावन कर्त्तव्य है। जैसे भी होगा हम इस योजना को सफल करके ही राजधानी वापस आएँगे महामात्य!'

सप्तर्षियों के गृहीत वन्यमार्ग का पता लगा कर चरों ने आगे बढ़कर गूलर वृक्षों के नीचे उनके पके फलों में सुवर्ण को ऐसा भर कर बंद कर दिया कि कुछ अनुमान भी नहीं हो सकता था कि इनमें क्या है? ऐसे सैकड़ों फलों को उन लोगों ने गूलर वृक्षों के चारों ओर बिखरा दिए थे कि मानों वे क्षुधार्त्त ऋषियों के स्वागतार्थ वन देवी की ओर से उपहार के रूप में अर्पित किए गए हों। धीरे-धीरे वन्य मार्ग पर बढ़ने वाले सप्तर्षियों को वे गूलर के फल ऐसे दिखाई पड़े मानों दूर से ही उन्हें पुकार कर अपनी ओर बुला रहे हों। सभी

ऋषि भूख और प्यास से विह्वल हो चुके थे। एक-एक पग भूमि उन्हें योजन के समान लग रही थी। ऐसे कठिन क्षणों में प्रकृति भी उनकी परीक्षा के लिए कटिबद्ध थी। यद्यपि वन कभी से आरम्भ हो चुका था और अनेक फलवान वृक्ष भी मार्ग से बीत चुके थे तथापि किसी भी वृक्ष में फल का निशान भी शेष नहीं था। राजा वृषादर्भि के चतुर चरों ने आगे बढ़कर उन सब को फूलों और फलों से विहीन कर दिया था।

निदान गूलर के लुभावने पके फलों को देखकर सप्तर्षियों के जी में जी आया। वृद्ध अत्रि की निराश आँखों में प्रकाश की क्षीण ज्योति चमक उठी। उन्होंने गौतम से उन फलों की ओर संकेत करते हुए कहा।

'सौम्य! लें, अब हम लोगों को फलाहार का अच्छा अवसर मिल गया है। सामने इतने उदुम्बर फल मौजूद हैं कि हम लोग उनके द्वारा दो चार दिन तक के लिए क्षुधा को दूर कर सकते हैं।'

गौतम को क्षुधा अधिक सता रही थी। वे विद्युत् वेग से आगे बढ़कर गूलर के उन मनोहर फलों को बटोरने लगे। उनकी देखा देखी दूसरे ऋषि भी फल-संग्रह में लग गए, किन्तु अत्रि और वसिष्ठ अब भी ज्यों के त्यों खड़े ही थे। उदुम्बर के अपावन फल को इस संकट-क्षण में ग्रहण किया जाय या नहीं—इसी विषय पर वे दूर तक सोच रहे थे। इसी बीच महर्षि गौतम ने व्यवस्था दे दी। वे बोले—'महानुभाव! आपत्ति शास्त्र की कठोर आज्ञाओं को कोमल बनाने की प्रेरणा देती है। उदुम्बर का फल यद्यपि गर्हित है तथापि इसके काष्ठ की पवित्रता और इतने दिनों की असह्य क्षुधा को देखते हुए हमें आज इनको ग्रहण करने में कोई पाप नहीं होगा। शरीर एवं प्राणों की रक्षा के लिए इस आपद्धर्म की व्यवस्था हम सब को मान्य होनी ही चाहिए।'

सभी ऋषि चुप थे। गौतम के अगाध ज्ञान-गौरव को कुण्ठित

करने की इच्छा किसी में भी नहीं थी कि इसी बीच महर्षि अत्रि ने गौतम के हाथ से गूलर का एक फल उठाकर देखा। फल भारी था, और उसमें किसी विजातीय वस्तु के होने का अनुमान सहज ही किया जा सकता था। वे हथेली पर थोड़ी देर तक उस फल को उछालते रहे, फिर वसिष्ठ की ओर उन्मुख होकर मुस्कराते हुए बोले—

'सौम्य! निश्चय ही इन फलों में सुवर्ण के समान भारी कोई वस्तु भरी हुई है। हम कितने ही क्षुधार्त क्यों न हो किन्तु हमारी बुद्धि अभी इतनी मंद नहीं हुई है। हम सो नहीं रहे हैं कि इन छलनिर्मित उदम्बर फलों को ग्रहण कर लें। इनके ग्रहण करने से तो हमारा उभयलोक नष्ट हो जायगा। जीवन भर की अर्जित तपोराशि ध्वस्त हो जायगी। हमें इन लाल-लाल फलों को अग्नि के दहकते अंगारों के समान छोड़कर आगे बढ़ना चाहिए। ये निश्चय ही हमारी परीक्षा के लिए यहाँ रखे हुए हैं।'

महर्षि अत्रि की बातों में सत्य था। सभी ऋषियों की क्षुधार्त एवं मुँदी आँखें तपस्या की पावन-ज्योति से उद्भासित हो उठीं। अंतर्मन में व्याप्त संतुष्टि एवं आह्लाद से उनका मुरझाया मुखमण्डल ज्योतिष्क हो। बिजली की गति के समान उनके मुमूर्ष अंगों में चंचलता दौड़ गई। उन मनोहर फलों को नीचे भूमि पर फेंक कर वे द्रुत गति से आगे बढ़ गए। उन्हें इतनी जल्दी पड़ी थी कि वे यह भी नहीं देख सके कि महर्षि अत्रि की बात में कहाँ तक सचाई है। उनके हाथों से फेंके गए धरती पर बिखरे उदुम्बर के फल फट गए थे और उनके बीच में रखे हुए सुवर्ण के अनेक जाज्वल्यमान खण्ड राजा वृषादर्भि के मंत्रियों एवं चरों का उपहास करते हुए बिखरे हुए थे।

राजा वृषादर्भि के दक्ष चरों को बड़ी निराशा और वेदना हुई जब उन्होंने देखा कि उन वृद्ध ऋषियों की शक्तिहीन आंखों ने बिना भली भांति देखे ही उनकी गुप्त-योजना का भण्डाफोड़ कर दिया। उन सब का मुख उदास हो गया, प्रसन्नता लुप्त हो गई और दुःख-

दायी भविष्य की चिन्ता से हृदय चिन्तित हो उठा। वे राजा वृषादर्भि के कोप से सुपरिचित थे। किन्तु करते ही क्या, उन्हें सन्ध्या तक राजा और मंत्रिपरिषद्—दोनों को अपनी सफलता अथवा असफलता की सूचना तो अवश्यमेव देनी ही थी।

चिन्ता और वेदना के असह्य बोझ से संत्रस्त राजा वृषादर्भि के चरों ने जब महामात्य को एवं राजा को बताया कि किस प्रकार उन अनुभवी और तेजस्वी ऋषियों ने विना देखे ही उनकी योजना का रहस्य समझ लिया तो वे विस्मित और चिन्तित नहीं हुए। चरों की ओर एक बार मर्मभरी दृष्टि फेंक कर वे मौन ही खड़े रहे। और कुछ क्षण बाद उन लोगों को चले जाने का आदेश देकर फिर से किसी दूसरी योजना को तैयार करने में लग गए।

+ + +

इधर भूख-प्यास से परिश्रान्त और चिन्तित सप्तर्षियों ने वन्य मार्ग में किसी भी फल-पुष्प को ग्रहण न करने का निश्चय किया। उन्हें सन्देह हो गया कि कदाचित राजा के गुप्तचरों की माया में हम लोग फँस न जायँ। वे वन का मार्ग छोड़कर चमत्कारपुर की ओर चल पड़े। मध्य मार्ग के एक सरोवर में अपनी पिपासा शान्त कर वे पुष्कर की ओर जाने वाले मार्ग पर आगे बढ़ने लगे। पुष्कर के मध्यमार्ग में ही उनकी भेंट एक कृशकाय किन्तु तेजस्वी परिव्राजक से हुई, जो अपनी विशेषताओं से एक परम साधक की भाँति मालूम पड़ रहा था। एक विशाल सरोवर के पवित्र तट पर वह योगाराधन में दत्तचित्त था। सरोवर विविध प्रकार के कमलों से ढँका हुआ था। कमलिनियों की हरित पत्रावली के भीतर उसकी सुशीतल एवं सुस्वादु जलराशि नीलमणि के द्रव की भाँति चमक रही थी। सरोवर की गहराई अगाध थी। चारों दिशाओं में मनोहारी स्फटिक के मजबूत घाट बने हुए थे और किनारों पर सभी प्रकार के वृक्षों की पंक्तियाँ विराजमान थीं। अधिकांश वृक्ष, फलों और पुष्पों के

भार से अवनत हो रहे थे और उनकी शाखाओं एवं कुंजों पर रंग-विरंगे पक्षियों के वृन्द गुंजन कर रहे थे। ऐसा लगता था मानों ऋतुराज वसन्त की उन्मादिनी लक्ष्मी अपना सर्वस्व लुटा कर वहीं कहीं छिपकर आँख-मिचौनी खेल रही हो ।

ऐसे आकर्षक एवं पवित्र स्थल को देखकर सप्तर्षिवृन्द वहाँ ठिठक गए, जहाँ उक्त परिव्राजक अपने अर्धनिमीलित नेत्रों से उनकी गतिविधि की परीक्षा कर रहा था। सप्तर्षियों को कुछ ही क्षण रुके हुआ होगा कि परिव्राजक ने अपनी समाधि का क्रम भंग किया और आदर भरे स्वर में उनका स्वागत करते हुए पूछा—

'सौम्य वृन्द ! आप लोग खड़े क्यों हो गए ? यहाँ आइए, मेरा आसन पवित्र कीजिए। मैं आप लोगों की क्या सेवा कर सकता हूँ ?'

वृद्ध परिव्राजक की इन लुभावनी बातों का सप्तर्षियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वे सतर्क हो गए और वहीं खड़े-खड़े उस वृद्ध परिव्राजक का परिचय पूछा। उसने कहा—

'ऋषियों ! आप किसी अनिष्ट की शंका न करें। सब प्रकार से आप की सहायता करना ही मेरा धर्म है। मेरा नाम शुनःसख है। और परिव्राजकों का कोई स्थायी आवास तो होता नहीं अतः संक्षेप में यह समस्त भारतभूमि ही मेरी तपोभूमि है। मैं सदैव तीर्थ यात्रा ही किया करता हूँ। आप लोग आ कर थोड़ी देर के लिए ही मेरे आसन पर बैठ जायँ। मैं देख रहा हूँ कि आप सब बहुत श्रान्त और सुस्त हैं। बताएँ, मैं क्या सेवा आप लोगो की कर सकता हूँ।'

सप्तर्षियों का सन्देह और दृढ़ हो गया। वे समझ बैठे कि इस प्रकार की लच्छेदार भाषा का प्रयोग कोई राजनीतिज्ञ ही कर सकता है। वे वहाँ से चल पड़े और उस विशाल सरोवर के दूसरे तट की ओर जाकर एक जगह बैठ गए। इधर परिव्राजक ने जब उन्हें दूसरे घाट की ओर जाते देखा तो झटपट अपना सामान एकत्र कर उनके

पीछे पीछे वह चल पड़ा। और जहाँ वे लोग बैठे हुए थे वहाँ पहुँच कर पुनः करबद्ध निवेदन किया—

'ऋषिवृन्द! आप लोग व्यर्थ की आशंका में पड़े हुए हैं। खैर, आप लोग जो कुछ भी समझें, मैं तो आप सब की सेवा ही करना चाहता था। किन्तु यदि मेरी सेवा स्वीकार नहीं है तो इसका मुझे कोई शोक भी नहीं है। मैं आप लोगों से दो-एक बातें पूछना चाहता हूँ। आपके गंभीर ज्ञान और अनुभव की असीमता देखकर ही मुझे यह पूछने की प्रेरणा हो रही है, कृपया मेरा समाधान कर दें, और मैं अपने मार्ग पर आगे बढ़ जाऊँ।'

थोड़े झंझट में ही मुक्ति देखकर महर्षि अत्रि ने मुस्कराते हुए परिव्राजक को अपना प्रश्न प्रस्तुत करने का संकेत किता। परिव्राजक मुस्कराया। कुछ क्षण चुप रहकर उसने मर्म भरी वाणी में पूछा—

'ऋषिवृन्द! मैं जानना चाहता हूँ कि इस भूख की पीड़ा कैसी होती है, जिसके कारण आप लोगों जैसे लोकविरक्त महानुभावों की चेतना भी विलुप्त होती जा रही है।'

महर्षि अत्रि बोले। 'सौम्य! शस्त्रास्त्रों की भयंकर चोट से जो वेदना मनुष्य के शरीर में होती हैं, उसे भी भूख की यह पीड़ा नीचे गिरा देती है। इस भूख की अग्नि पार्थिव अग्नि के समान ही भीषण है। यह शरीर की समस्त नाड़ियों को सुखा देती है। चेतना को विलुप्त करने के लिए आँखों की ज्योति को क्षीण कर देती है। यही नहीं वाणी और श्रवणेन्द्रिय को भी यह जड़ बना देती है। भूख की ज्वाला जिस शरीर में जलती है, वह शरीर चिता पर जलते हुए शरीर की भाँति विकल हो जाता है। इससे बढ़कर संसार में कोई पीड़ा नहीं है।'

महर्षि अत्रि के इस उत्तर को सुनकर परिव्राजक पुनः मुस्क-राया। उसने कुछ क्षण चुप रह कर फिर प्रश्न किया। बोला—

—'महानुभाव! यदि ऐसा है तब तो अन्न-दान संसार में सबसे

बड़ा दान है और उसका करने वाला कभी दुर्गति नहीं भोग सकता।'

परिव्राजक के इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि अत्रि और वसिष्ठ साथ ही बोल पड़े—'सौम्य! इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अन्न इस धरती पर विद्यमान सभी पदार्थों में सर्वोत्तम है। भूखे मनुष्य को अन्न दान करने वाला प्राणी अक्षय पुण्य प्राप्त करता है, उसे परलोक में सनातन स्थिति प्राप्त होती है। इस संसार में किसी भी वस्तु का दान भूखे को दिए गए अन्नदान के सोलहवें भाग की भी समानता नहीं कर सकता।'

परिव्राजक बोला—'ऋषिवृन्द! क्या यह दान ब्राह्मणों के लिए भी विहित है।'

इस बार महर्षि कश्यप बोले। उन्होंने कहा—'सौम्य! दान सब के लिए विहित है। ब्राह्मणों का तो वह परम धर्म है। इस पृथ्वी पर दान, दया और दम—ये तीन सर्वश्रेष्ठ धर्म हैं। इन तीनों की आराधना करनेवाला कभी रोग-शोक में नहीं पड़ता। किन्तु यद्यपि ब्राह्मण के लिए 'दान' की अपार महिमा है तथापि उसका सर्वोत्तम धर्म 'दम' है। 'दम' के बिना तो ब्राह्मण की स्थिति ही इस धरती पर नहीं हो सकती। जिस ब्राह्मण में 'दम' नहीं है वह निस्तेज, अजितेन्द्रिय तथा लोलुप है। उसकी सारी साधना खण्डित हो जाती है। 'दम' का अर्थ है, सभी इन्द्रियों का दमन अथवा वशीकरण। जिस साधक अथवा ब्राह्मण की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, वह विषयासक्त हो जाता है। और विषयासक्ति ही नरक का द्वार है। किन्तु इसके विपरीत जो ब्राह्मण अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है, उसके लिए उसका गृहस्थाश्रम भी तपोवन ही है।'

परिव्राजक को यह समझने में देर नहीं लगी कि महर्षि कश्यप की इस वक्तृता में दमन की अपार महिमा का वर्णन क्यों किया जा रहा है। भूख की असह्य ज्वाला में दग्ध होते हुए भी सप्तर्षियों ने

'दम' की जो अनुपम प्रतिष्ठा दिखलाई थी, महर्षि कश्यप की बातों में उसी ओर संकेत किया गया था। परिव्राजक कुछ क्षण चुप रहा। वह फिर बोला—

'ऋषिवृन्द! मैं जानना चाहता हूँ कि विद्याध्ययन अथवा वेदों के अध्ययन में निरत रहने वालों के लिए भी इस 'दम' की आवश्यकता पड़ती है या नहीं?'

महर्षि अंगिरा ने कहा—'सौम्य! केवल विद्याध्ययन अथवा वेदाध्ययन में लगे रहने से मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। मुक्ति तो उसे ही प्राप्त हो सकती है जो यम-नियम का पालन करनेवाला शान्त, एकान्तसेवी तथा ध्यान परायण है। समस्त वेदों एवं शास्त्रों का ज्ञान भी अजितेन्द्रिय पुरुष को पवित्र नहीं बना सकता। और बिना पवित्र हुए कोई भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता।'

परिव्राजक फिर बोला—'महर्षि! आप की इस उच्च शिक्षा ने मेरे हृदय के विकल्पों को दूर कर दिया है। अब आप लोग कृपाकर मुझे धर्म के सार रूप में कुछ उपदेश और दें, जिससे मैं अपने को पवित्र कर सकूँ।'

ऋषि वृन्द भूख और प्यास से व्याकुल हो रहे थे। किन्तु जिज्ञासु की उत्कण्ठा को शान्त करना भी उनका धर्म था। महर्षि वसिष्ठ ने कहा—

—'सौम्य! इस संसार में जितने भी धर्म के आचरण कहे गए हैं, उनका सार अति संक्षेप में यही है कि—जो बात या चेष्टा अपने को बुरी लगे, उसे दूसरे के लिए भी आचरण न करे। जो व्यक्ति पराई स्त्री को अपनी माता के समान पूज्य, परधन को मिट्टी के ढेले के समान तुच्छ तथा संसार के सभी जीवों को अपने ही समान देखता है वही सबसे बड़े धर्म का आचरण करने वाला है और उसी को मोक्ष की प्राप्ति होती है।'

महर्षि वसिष्ठ की इस धर्म व्याख्या को सुनकर परिव्राजक को

परम शान्ति मिली, वह शिर झुकाकर वहाँ से चल पड़ा और अपने पूर्व घाट पर जाकर फिर से ध्यानमग्न हो गया। इधर ऋषियों ने समझ लिया कि यह परिव्राजक कोई मायावी राजपुरुष नहीं है। धर्म के तत्त्वों का कोई जिज्ञासु है। वे अब प्रकृतिस्थ हो चुके थे और भूख प्यास की निवृत्ति का कुछ उपाय सोचने में लग गए थे।

विशाल सरोवर में लहराते हुए कमलों की मनोहर पंक्तियों को वे कुछ क्षण तक निर्निमेष दृष्टि से देखते रहे। फिर निश्चय किया कि इसी सरोवर में से कुछ मृणाल निकालकर भूख की ज्वाला शान्त की जाय। किन्तु सरोवर की अगाध जलराशि में प्रवेश कर के मृणाल निकालना कोई सरल काम नहीं था। और उस विशाल सरोवर में भी प्रवेश करने का केवल एक द्वार था। और वह भी उसी ओर था जिस ओर परिव्राजक ध्यान-मग्न था। निदान सप्तर्षिवृन्द पुनः उसी घाट की ओर गए, जिधर से सरोवर में प्रवेश करने का द्वार था।

प्रवेश द्वार वाले घाट पर पहुँचकर सप्तर्षियों ने देखा कि वहाँ एक विकराल राक्षसी अत्यन्त उग्र वेश में सज बज कर बैठी है, जैसे सप्तर्षियों को निगल जाने की तैयारी उसने कभी से कर ली हो। उसके भयंकर नख, दाँत और मुख की बनावट बड़ी भयंकर किन्तु विचित्र थी। उसकी विकराल आँखों में अंगारों के समान दाहक लालिमा थी और उसके मुख मण्डल की झुर्रियाँ आन्तरिक क्रोध के विकारों से नितान्त क्रूर तथा जटिल हो रही थीं। ऋषियों ने यातुधानी से ही उसका परिचय पूछते हुए कहा—'भद्रे ! तुम कौन हो और तुम्हारे यहाँ खड़े होने का प्रयोजन क्या है ?'

यातुधानी ने ऋषियों की ओर एक क्रूर दृष्टि फेंकते हुए कहा—'ऋषियो ! मैं जो कोई भी होऊँ, तुम्हें मेरा परिचय जानने की क्या आवश्यकता है ? बस, यही समझ लो कि मैं इस सरोवर की रक्षिका हूँ।'

यातुधानी की वाणी में इतनी निष्ठुरता थी कि सप्तर्षि भौंचक्के

रह गए। उन्हें ऐसी कठोर वाणी सुनने का अभ्यास नहीं था।

यातुधानी राजा वृषादर्भि की कृत्या थी, जिसे उसने अपने मंत्रियों के परामर्श से मांत्रिक ब्राह्मणों के अनुष्ठान से विनियुक्त कराया था। राजा ने उसे इन्हीं दम्भी सप्तर्षियों की हत्या के लिए भेजा था, क्योंकि उसके दान को ठुकराकर उन्होंने जो अपराध किया था, राजा उसका बदला लिए बिना नहीं रह सकता था।

निदान ऋषियों ने उस यातुधानी से उस सरोवर के मृणालों को उखाड़ने की जब आज्ञा माँगी तो वह उसी स्वर में बोली—'मैं आज्ञा केवल एक शर्त पर दे सकती है कि सर्वप्रथम तुम लोग अपना परिचय मुझे दो और फिर एक-एक की बारी से सरोवर में प्रवेश करो।'

अनुभवी सप्तर्षियों ने समझ लिया कि यातुधानी क्या करना चाहती है। किन्तु वे भूख-प्यास से इतने व्याकुल थे कि वे इस कार्य के लिए भी तैयार हो गए। क्रमशः सभी ऋषियों ने अपना-अपना परिचय उसे दे दिया। किन्तु यातुधानी कृत्या थी। ऋषियों के पवित्र नाम और उनकी व्याख्या को वह हृदयङ्गम नहीं कर सकी। अन्त में परिव्राजक शुनःसख की जब बारी आई तो उसने आते ही हँसकर कहा—'रक्षिके! मैं कोई ऋषि नहीं हूँ। मैं तो इनका मित्र हूँ और मेरा नाम शुनःसख है।'

यह नाम भी कुछ विचित्र था। यातुधानी को इसका एक भी अक्षर स्मरण नहीं रहा। उसने फिर से नाम और परिचय बताने का आग्रह किया। परिव्राजक ने कठोर स्वर में कहा—'मैंने अपना परिचय एक बार तुझे दे दिया है अब तू भी तो अपना परिचय मुझे दे।'

यातुधानी ने परिव्राजक की इस बात पर अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करते हुए कहा—'अपना परिचय मैं दे चुकी हूँ, आप को फिर से अपना परिचय देना ही होगा, अन्यथा सरोवर में प्रवेश की अनुमति मैं नहीं दूँगी।'

यातुधानी का स्वर इतना क्रूर तथा उसकी भावभंगिमा इतनी

निष्ठुर थी कि परिव्राजक को अपने को सभालना कठिन हो गया। उसने दीर्घ श्वासें खींचते हुए अपना त्रिशूल ऊपर उठाया और उसकी एक चोट से यातुधानी का काम तमाम कर दिया। धरती पर गिरते ही यातुधानी ने ऐसा भयंकर चीत्कार किया कि दिशाएँ बहरी हो गई और सरवोर की शान्त जलराशि विक्षुब्ध हो उठी। धरती हिल गई और तट तथा वृक्षों पर बैठे पशु-पक्षी आर्त्तनाद करते हुए भाग खड़े हुए। सप्तर्षियों ने देखा कि वह परिव्राजक कोई दूसरा नहीं अपितु स्वयं देवराज इन्द्र हैं और वह त्रिशूल उनका कठोर वज्र है।

यह भकानक दृश्य देखकर सप्तर्षि वृन्द थोड़ी देर के लिए अवसन्न हो गए। फिर तो देवराज ने उनका हार्दिक स्वागत करते हुए कहा—'ऋषियो! मैं आप लोगों की रक्षा के लिए ही यहाँ आया था। राजा वृषादर्भि की कृत्या का पता जब मुझे स्वर्ग में लगा तो मैं तत्काल आप लोगों की रक्षा के लिए ही यहाँ चल पड़ा। लोभ एवं दुर्भावना का सर्वथा परित्याग कर आप लोगों ने इस त्रैलोक्य को अपने अधीन कर लिया है। आपकी यह कठिन परीक्षा अनन्त काल तक मानव जाति को अक्षय प्रेरणा देती रहेगी। अब से आप सब को कभी भी भूख-प्यास की बाधाएं नहीं सताऐंगी।'

ऋषियों ने देखा कि वहाँ न तो देवराज इन्द्र हैं और न वह कमलिनी मण्डित सरोवर। यही नहीं महीनों से उनके शरीर को जलाने वाली वह क्षुधा की प्रचण्ड ज्वाला भी न जाने कहाँ विलीन हो गई है।

न्याय की मर्यादा

प्रजापति ब्रह्मा के पुत्र कश्यप की अनेक स्त्रियों में दो के नाम थे दिति और अदिति। दिति से दैत्यों तथा अदिति से आदित्यों अर्थात् देवताओं का जन्म हुआ। जैसा कि सौतेले भाइयों में आज भी होता है, दैत्यों और देवताओं में कभी पटी नहीं। एक दूसरे के प्राणघाती रहे। यद्यपि बीच-बीच में दोनों वंशधरों में ऐसे कुछ सुजन तथा सुमति-सम्पन्न चरित्रों की कथाएँ आती हैं, जो परस्पर मेल जोल और शान्ति बनाए रखने के पक्षपाती थे, तथापि दोनों ओर उपद्रवप्रिय विघातकों की संख्या ही अधिक थी। हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद दैत्यों के वंश का एक ऐसा ही उज्ज्वल नक्षत्र था। दैत्य वंश में जन्म लेकर भी उसने देवताओं के उपाध्यक्ष विष्णु की संगति प्राप्त की और अपने अत्यन्त क्रूर एवं अनाचारी पिता के कोटि-कोटि घातक प्रयत्नों को व्यर्थ बना कर त्रैलोक्य में वैष्णवता की वह पावन धारा बहाई, जिसमें स्नान कर आज तक मानव जाति के त्रय तापों का निवारण होता है।

उसी दैत्येन्द्र प्रह्लाद का पुत्र विरोचन था। विरोचन भी पिता के समान ही उदारधी, परदुःखकातर, शान्ति-प्रेमी तथा वैष्णव था, किन्तु नवयौवन के वसन्त में एक त्रिभुवन सुन्दरी रमणी केशिनी को लेकर उसका महर्षि अंगिरा के पुत्र सुधन्वा से तीव्र विवाद उत्पन्न हो गया था। केशिनी न केवल सर्वाङ्गसुन्दरी थी वरन् अपने अनुपम चारित्रिक गुणों के कारण भी संसार के युवक समाज में चर्चा का विषय बनी हुई थी। महर्षि अंगिरा का पुत्र सुधन्वा भी अपने अखण्ड ब्रह्मवर्चस्, अगाध पाण्डित्य, अनिन्द्य यौवन एवं अपार शारीरिक सौन्दर्य से युवक जनों की स्पर्द्धा का पात्र बन गया था। ऋषियों

मुनियों और दैत्यों, देवताओं तक उसके अप्रतिम व्यक्तित्व की छाप पहुँच चुकी थी। सर्वसाधारण की धारणा थी कि केशिनी की अतुलनीय रचना विधाता ने सुधन्वा जैसे सत्पात्र के लिए ही की है। ऐसी त्रिभुवन-विमोहिनी जोड़ी का सम्बन्ध सब को अभिप्रेत था। किन्तु उधर दूसरी ओर दैत्येन्द्र प्रह्लाद के पुत्र विरोचन का भी अधिकार केशिनी पर कम नहीं था। उस समय दैत्य ही त्रिभुवन विजयी थे। दैत्यराज प्रह्लाद की करुणा और दीनवत्सलता के कारण समस्त जगती दैत्यों की प्रशंसक थी। प्रह्लाद के पुत्र विरोचन का स्वत्व संसार की सभी सुन्दर वस्तुओं पर सहज ही संभाव्य था, अतः जब केशिनी के अलौकिक गुणों एवं अनुपम सौन्दर्य की चर्चा से आकृष्ट होकर विरोचन ने स्वयमेव उसे पाने की हार्दिक अभिलाषा प्रकट की तो सुरासुर जाति में ऐसा कोई नहीं था, जिसमें केशिनी पर विरोचन के दावे को झुठलाने की शक्ति हो। सुधन्वा की वैयक्तिक योग्यता एवं पात्रता की चर्चा दैत्य युवराज विरोचन के जन्मजात अधिकारों के सम्मुख फीकी पड़ने लगी। राज-सत्ता ने ब्रह्मवर्चस् के अखंडनीय तेज को धूमिल बना दिया। शनैः शनैः जगती एवं जनता में केशिनी पर विरोचन का अधिकार उद्दीप्त होता गया और सुधन्वा की पात्रता झूठी होने लगी।

त्रिभुवन विमोहिनी केशिनी की विचित्र मनोदशा थी। हृदय से वह सुधन्वा पर अपना सर्वस्व निछावर कर चुकी थी, किन्तु बिना किसी निर्णय के नारी जाति को अपना सर्वस्व लुटाने की आज्ञा देना उस समय के समाज के लिए भी कठिन था। लोक-लज्जा की दारुण अग्नि में जलते हुए भी केशिनी अविचल रही। हृदय की असह्य पीड़ा को प्रकट करने वाली उसकी वाणी मूक हो रही। मुख पर कुल-मर्यादा एवं स्त्री-जाति की सहज लज्जा की क्रूर अर्गला लगा कर उसने अपने अन्तःकरण के हाहाकार को भीतर ही भीतर दबा दिया और अज्ञ विधाता के क्रूर विधान के हाथों अपने को निरीह छोड़कर

चुपचाप रहने में ही अपना कल्याण समझा ।

ऋषिकुमार सुधन्वा को केशिनी की मनोदशा ज्ञात थी। प्रतिद्वन्द्वी विरोचन की चर्चा से उसका प्रशान्त मानस उद्वेलित हो उठा । हृदय के इस झंझावात में वह अविचलित नहीं रह सका । उसे केशिनी पर विरोचन के अधिकारों की गंध का जैसे ही ज्ञान हुआ, वैसे ही अपनी अदम्य तेजस्विता एवं मुखर निर्भयता से वह चंचल हो उठा। केशिनी को वह हृदय से अपनी बना चुका था, ऐसे कठोर शब्दों की कल्पना भी उसे नहीं थी, जिसमें केशिनी का सम्बन्ध उसके सिवा किसी अन्य पुरुष से बताया जाता । अतः जब केशिनी पर विरोचन के अधिकारों की चर्चा का स्वर मुखर हुआ तो सुधन्वा की निर्भय वाणी भी मुखरित हो उठी। उसने तीव्र शब्दों में अपनी मित्रमंडली में यह प्रचार करना शुरू कर दिया—'असुर विरोचन केशिनी के सम्बन्ध में ऐसा दावा क्यों कर सकता है ? केशिनी मेरी है, मेरे रहते उसे विरोचन कैसे ले जा सकता है ? देखता हूँ असुरों में कौन सी ऐसी शक्ति है जो केशिनी को मुझसे पृथक् कर सकती है ।'

धीरे-धीरे सुधन्वा की घोषणा विरोचन की नगरी एवं तदनन्तर उसके कानों में भी जा पड़ी । वह केशिनी की रूप-राशि पर अपना सर्वस्व अर्पण कर चुका था । निदान सुधन्वा के इस प्रलाप को शान्त करने के लिए उसने अपनी आसुरी सम्पदा का सहारा लेने का कठोर निश्चय किया और सुधन्वा को अपने दूत से कहला भेजा कि—'यदि सुधन्वा अपना और धरती का कल्याण चाहता है तो केशिनी की मोहक रूप-राशि से अपनी आँखें उठा ले । एकाकिनी केशिनी के बदले सहस्रों नारी-रत्न उसको दिए जा सकते हैं किन्तु यदि वह केशिनी को ही चाहेगा तो उसका यह लोक और परलोक दोनों बिगड़ेगा । शास्त्रों का कथन है और अनुभवी वृद्धजन भी इसका समर्थन करते हैं कि संसार की सभी दुर्लभ वस्तुएं राजा के लिए बनाई जाती हैं । केशिनी की मनोहर रचना जिस बुद्धिमान् विधाता ने की

है उसी ने त्रैलोक्य का सिंहासन भी पहले से बना रखा है। विधाता की वह कल्याणी रचना किसी भिक्षुक ब्राह्मण की पर्णकुटी बुहारने के लिए नहीं बनाई गई है।'

विरोचन के इस सन्देश में जो विष व्याप्त था, उसका तत्क्षण प्रभाव सुधन्वा पर पड़े बिना नहीं रहा। वह तीव्र अमर्ष के आवेग से मूर्च्छित-सा हो उठा। ब्रह्मवर्चस् की अखंड ज्वाला से देदीप्त उसका मुखमण्डल इस असह्य वेदना के कारण तपाए हुए ताम्रकलश की भाँति कृष्ण वर्ण हो गया। किंचित्काल तक मंत्रावरुद्ध सर्प की भाँति वह केवल फूत्कार करता रहा। हृदय की विकराल ज्वाला से विदग्ध उसके कण्ठ में वाणी को मूर्त रूप देने की शक्ति ही नहीं थी। विचारों की शृंखला में एक कड़ी भी जोड़ना उसके लिए संभव नहीं रहा। विक्षोभ की उत्ताल लहरों से मुमूर्षु होकर वह आँखें बंद कर के जान बूझ कर धरती पर लेट गया और तब तक लेटा रहा जब तक वेदना का बोझ आँखों के सहारे पूरा का पूरा निकल नहीं गया और अन्तश्चेतना का आवरण स्वच्छ नहीं हो गया।

बहुत देर तक चुपचाप विचार करने के अनन्तर सुधन्वा इस निष्कर्ष पर आ टिका कि पहले विरोचन को समझाने-बुझाने से भी काम चल सकता है। आखिरकार वह धरती का शासक होने वाला है। उसका पिता प्रह्लाद परम वैष्णव तथा परदुःखकातर है। यदि विरोचन कथंचित् अन्याय पथ पर भी प्रवृत्त होगा तो निश्चय ही प्रह्लाद की विवेकिनी बुद्धि उसे विरत करेगी। और यदि इतने पर भी विरोचन न्याय-पथ पर नहीं आएगा तो मेरा ब्रह्मवर्चस तो है ही। विरोचन को समूल विनष्ट करने की शक्ति तो है ही। केशिनी जब मेरी हो चुकी है तो सैकड़ों विरोचन भी उसे मुझसे पृथक् नहीं कर सकते। हम ब्राह्मण हैं, पहले हमें न्याय का ही पथ ग्रहण करना चाहिए।'

अन्ततः वही हुआ, जो सुधन्वा ने सोच रखा था। विरोचन और सुधन्वा का मामला निर्णय के लिए परम वैष्णव प्रह्लाद के सम्मुख

उपस्थित किया गया और दोनों ने अपनी-अपनी बातों के स्वीकृत न होने पर अपने-अपने प्राणों की बाजी लगा दी। दोनों ने अपने अपने पक्ष के समर्थन में अकाट्य तर्क उपस्थित किए। विरोचन ने कहा—

'तात ! केशिनी के बिना मैं आप के दिए हुए इस सम्पूर्ण धरती का राज्य व्यर्थ मानता हूँ। वह मेरी है और मेरे ही लिए विधाता ने उसकी मनोहर रचना की है। त्रैलोक्य के इस अमूल्य रत्न को मेरे रहते हुए अकिंचन सुधन्वा को पाने का कोई अधिकार नहीं है।'

सुधन्वा ने बड़ी गंभीरता और धैर्य से विरोचन की बातें सुनीं। प्रह्लाद के पूछने पर उसने भी अपना अभिमत प्रकट किया। वह बोला—'राजन् ! मैं नहीं जानता कि विरोचन मुझ से किस बात में श्रेष्ठ है, जो केशिनी पर अपना अधिकार बतलाता है। उसके राज वैभव एवं धन-सम्पत्ति के मिथ्या अहंकार को मैं इस योग्य नहीं मानता कि आप भी उसको मुझसे श्रेष्ठ बताएँ। ब्रह्मवर्चस्, साधना एवं तपस्या की जिस अखंडनीय तेजस्विता की मैंने दीर्घ आराधना की है उसमें क्या विरोचन मुझे पराजित कर सकता है। मेरी शारीरिक शक्ति एवं समृद्धि भी विरोचन से कहीं अधिक समादरणीय है। आप चाहें तो मुझसे उसकी शारीरिक शक्ति की तुलना भी कर सकते हैं। पूर्वजों की अर्जित समृद्धि तो किसी कापुरुष को भी क्षण भर के लिए महिमावान बना सकती है, किन्तु तात ! पारखी लोग व्यक्तिगत गुणों एवं योग्यताओं के कारण ही पात्रता का मानदण्ड स्थिर करते हैं। मैं समझता हूँ आप इस सम्बन्ध में न्याय करेंगे और अपने पुत्र का पक्षपात करके त्रैलोक्य में बढ़ी हुई अपनी उज्ज्वल कीर्ति को कलंकित नहीं करेंगे।'

सुधन्वा की तेजस्विनी वाणी प्रह्लाद के मर्म को भेदती हुई और उसकी राजसभा में विष की वर्षा करती हुई शान्त हो गई। किसी सभासद अथवा मंत्री में यह साहस नहीं रहा कि वह कुछ भी बोल सके। दैत्येन्द्र प्रह्लाद कातर नेत्रों से ऋषिकुमार सुधन्वा की ओर देखने

लगे। और इस प्रकार बड़ी देर तक सारी सभा मौन ही बनी रही।

सुधन्वा से नहीं रहा गया। वह फिर बोला—

'राजन्! मैं आप की कठिनाई समझ रहा हूँ, किन्तु मैं कह देता हूँ कि यही मामला आप की धर्मपरायणता और न्यायनिष्ठा की सच्ची कसौटी बनेगा। यदि इसमें आप उचित न्याय नहीं करेंगे अथवा मौन रह जायँगे तो वज्रधारी इन्द्र अपने वज्र द्वारा आपके शरीर को सैकड़ों टुकड़े में काट डालेंगे।'

सभा अवसन्न रह गई। सुधन्वा की तेजस्विता एवं निर्भयता का ऐसा आतंक छा गया कि दैत्येन्द्र प्रह्लाद पीपल के पत्ते की भाँति विकम्पित हो उठे। उन्होंने सुधन्वा से इस कठिन प्रश्न का उत्तर देने के लिए एक सप्ताह का समय माँगा और तत्क्षण ही सभा को विसर्जित कर महान तेजस्वी असुर पितामह कश्यप के समीप पहुंचने को प्रस्थान किया।

× × ×

कश्यप देवताओं और दैत्यों के वृद्ध पितामह थे। ऐसे मामलों में उनकी व्यवस्था दोनों जातियों को मान्य होती थी। प्रह्लाद ने सोचा कि इस सम्बन्ध में उन्हीं का निर्णय लेना सब प्रकार से कल्याणकारी है। प्रह्लाद के धर्म संकट को समझ कर कश्यप ने सभा एवं न्याय की मर्यादा का जो स्वरूप उपस्थित किया वह आज के युग में भी बड़े काम की चीज है।

प्रह्लाद ने पूछा—'महाभाग! आप देवताओं, असुरों तथा ब्राह्मण के धर्मों को अविकलरूप से जाननेवाले हैं। मैं घोर धर्म-संकट में फँस गया हूँ। मेरे सामने ऐसी कठिन समस्या उपस्थित हो गई है कि मैं उसका कोई हल बहुत विचार करने पर भी नहीं पा रहा हूँ। अतएव मैं जानना चाहता हूँ कि सभा या न्याय की पुकार में यदि कोई भी उत्तर न दिया जाय अथवा असत्य उत्तर दे दिया जाय तो ऐसा करने वाले को मृत्यु के अनन्तर में कौन-से लोक प्राप्त होते हैं?'

कश्यप जी बोले—"तात प्रह्लाद ! जो मनुष्य जानते हुए भी काम, क्रोध, लोभ अथवा भय से प्रश्नों का उत्तर नहीं देता, उस पर वरुण के सहस्रों पाश आ-आकर गिरते हैं। इसी प्रकार जो साक्षी या न्यायकर्त्ता गाय बैल के ढीले कानों की तरह शिथिल होकर दोनों पक्षों से सम्बन्ध बनाए रखने की इच्छा से सच्ची गवाही नहीं देता, न्याय की बात नहीं कहता, उस पर भी वरुण के सहस्रों पाश आ गिरते हैं। वरुण का एक पाश एक वर्ष बीतने पर खुलता है। अतः यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार का अन्याय करनेवाला प्राणी सहस्रों वर्षों तक वरुण पाश की कठोर यातना सहता है।

'जिस सभा अथवा पंचायत में अधर्म विजयी होता है, और धर्म अथवा न्याय की हत्या होती है, उसके सभासद धर्म-हत्या के पाप-भागी होते हैं। धर्म की यह हत्या ब्रह्म-हत्या से भी बढ़कर भयंकर होती है। जिस सभा में अधर्म होता है, उसका आधा भाग स्वयं सभापति लेता है, एक चौथाई भाग अधर्म करने वालों को मिलता है तथा एक चौथाई भाग उन सभासदों अथवा पंचों को मिलता है, जो निन्दनीय पुरुष की निन्दा नहीं करते और अन्याय को छिपाते हैं। इसी प्रकार जिस सभा अथवा पंचायत में निन्दा के योग्य मनुष्य की निन्दा की जाती है, वहाँ सभापति निष्पाप हो जाता है, सभासद अथवा पंच भी पाप से मुक्त हो जाते हैं और समूचा पाप करने वालों को लगता है।

'वत्स प्रह्लाद ! जो लोग धर्मविषयक प्रश्न पूछनेवाले को झूठा उत्तर देते हैं, वे अपने समस्त अर्जित पुण्यों का नाश तो करते ही हैं आगे-पीछे की सात पीढ़ियों के भी पुण्यों का हनन करते हैं। तात ! संसार में इतने प्रकार के दुःख एक समान बताए गए हैं—

'जिस मनुष्य का सर्वस्व छीन लिया गया हो, जिसका जवान पुत्र मर गया हो, जो अत्यधिक ऋण से ग्रस्त हो, जिस युवती स्त्री का पति मर गया हो, राजा का कोप जिस पर हुआ हो, जो स्त्री

पुत्र-विहीन हो, जो शेर आदि हिंसक जन्तुओं के चंगुल में फँस गया हो तथा साक्षियों एवं न्यायकर्ताओं ने जिसके साथ धोखा दिया हो। निश्चय ही इन सब प्राणियों को एक समान ही कष्ट होता है, ऐसा देवताओं का मत है। अतः सभा एवं न्याय की गुहार में जो मनुष्य झूठ बोलता है अथवा मौन रह जाता है, उसे इन सभी प्रकार के पापों का भागी होना पड़ता है। अतएव तात! तुम्हें विरोचन और सुधन्वा के इस विवाद में न्याय की रक्षा ही करनी चाहिए, क्योंकि तुम राजा हो, न्यायपरायण हो और सुधन्वा ने तुझ पर विश्वास किया है। विरोचन का पिता होते हुए भी उसने तुझ पर न्याय की रक्षा का जो भार सौंपा है, उसकी रक्षा तो होनी ही चाहिए।"

कश्यप की न्यायपूर्ण बातें सुनकर प्रह्लाद की मन की गाँठें खुल गईं! वह राजधानी को वापस आये और भरी सभा में विरोचन तथा सुधन्वा को बुलाकर उन्होंने यह निर्णय दिया—

'वत्स विरोचन! निश्चय ही महाभाग्यशाली सुधन्वा तुझसे श्रेष्ठ है और वह केशिनी का उचित अधिकारी है। यही नहीं, उसके पिता महर्षि अंगिरा भी मुझसे (तुम्हारे पिता से) पूज्य हैं। सुधन्वा की माता भी तुम्हारी माता से श्रेष्ठ है। इस प्रकार मैं जिस ओर से भी देखता हूँ, सुधन्वा तुझसे श्रेष्ठ है और केशिनी पर उसका उचित अधिकार है। अब तो परमश्रेष्ठ सुधन्वा ही तुम्हारे प्राणों का ईश्वर है।'

प्रह्लाद की धीर-गंभीर वाणी सभा में विद्युत् की तरंगों की भाँति चमककर विलीन हो गयी। सभासद एव मंत्री सभी भौंचक्के रह गए। विरोचन मूर्च्छित-सा होकर धरती पर गिर पड़ा और उधर आकाश में देवगण जय-जयकार कर राजसभा पर पुष्पवृष्टि करने लगे। किन्तु तत्क्षण ही मुनिकुमार सुधन्वा को अपना कर्त्तव्य सुझाई पड़ गया। उसने तुरन्त विरोचन को उठाकर अपने अंगों से लगा लिया और अमृत-स्निग्ध वाणी में उसे आश्वासन देते हुए बोला—

'बन्धुवर विरोचन ! परम वैष्णव प्रह्लाद जैसे भाग्यशाली पिता के पुत्र होकर तुम्हें इस प्रकार का शोक करना उचित नहीं है। मैं तुम्हें शतायु होने का आशीर्वाद दे रहा हूँ। मेरी कामना है कि अपने महान् पिता के पद-चिह्नों पर चलकर तुम भी त्रैलोक्य की विजय-लक्ष्मी का आजीवन उपभोग करो। केशिनी ही क्या उसके समान सैकड़ों सुन्दरियाँ तुम्हारे अन्तःपुर की शोभा बढ़ाएंगी।'

विरोचन की भयमिश्रित मूर्च्छा सुधन्वा के इन अमृतकणों से क्षण भर में ही टूट गयी, उसने साश्रुनयन अपने अपराधों के लिए सुधन्वा से प्रबुद्ध स्वर में क्षमायाचना की और भरी सभा में एक प्रार्थी के समान अपने शासक पिता की आज्ञा को सादर स्वीकार कर केशिनी पर सुधन्वा के सहज अधिकार को मान्यता प्रदान की।

इस प्रकार देवताओं और असुरों का यह अप्रिय विवाद अनायास ही शान्त हो गया और बहुत दिनों तक दोनों जातियों में पारस्परिक संघर्ष एवं मनोमालिन्य की कोई स्थिति नहीं आई।

वृहस्पति और संवर्त का संघर्ष

महर्षि अंगिरा के तीन पुत्र थे। उतथ्य वृहस्पति और संवर्त। इन तीनों में ज्येष्ठ पुत्र वृहस्पति से उनके अनुज संवत का स्वभाव कभी नहीं मिला। वृहस्पति का शरीर जितना सुन्दर, सुडौल और स्वस्थ था, उनकी प्रतिभा तथा तेजस्विता भी उतनी हो प्रखर थी। देवताओं के समान गर्वीले स्वभाव में उनकी चमत्कारिणी विद्या-बुद्धि का प्रभाव सदैव चमकता रहता था। नवयौवन के प्रवेश से ही वे परम असहिष्णु तथा महत्वाकांक्षी थे। परिवार तथा पुरजन-परिजनों के बीच अपनी विशेष स्थिति को बनाए रखना उनका ध्येय था। अपने समवयस्क मुनि-बालकों से बोलना तो दूर वे अपने गुरुजनों के प्रति भी ईर्ष्यालु रहते थे। किन्तु उनकी परम प्रखर बुद्धि तथा सूक्ष्म तर्क-पद्धति के सामने मूक उनके समवयस्क तथा गुरुजन-वृहस्पति का सारा दुर्मान सहन करते थे, क्योंकि महर्षि अंगिरा का मुनि समाज में अत्यधिक आदर था और सब जानते थे कि वृहस्पति की अलौकिक प्रतिभा तथा तेजस्विता किसी न किसी दिन उत्तम फल देनेवाली होगी। वे वृहस्पति के अपमानपूर्ण व्यवहारों को न केवल सहन ही करते थे वरन् इसके विपरीत जब कभी अवसर आता था, वृहस्पति की प्रशंसा और चाटुकारी भी किया करते थे।

इस प्रकार शनैः शनैः वृहस्पति का दुरभिमान थोड़े ही दिनों में अत्यन्त प्रवृद्ध हो गया। अपने अधीत ज्ञान की उन्मत्तता तथा प्रत्युत्पन्नमतिता से वे मुनियों के समाज से दूर होने लगे। क्षमा, दया, उपकार भावना, करुणा और सहिष्णुता को वे कायरों की वस्तु मानने लगे और विद्याध्ययन के थोड़े ही दिनों बाद वे मुनिधर्म से दूर रह कर देवताओं के साहचर्य में रहने की अभिलाषा से राजसी-गुणों के उपासक बन गए।

महर्षि अंगिरा के स्वर्गारोहण के अनन्तर बृहस्पति का गर्वोद्धत जीवन और भी निरंकुश हो गया। अपने अनुज संवर्त से उनकी कभी नहीं पटती थी। उसका स्वभाव इनके नितान्त विपरीत था। वह परम शान्त, निर्लेप तथा निरभिमानी था किन्तु बृहस्पति के प्रति बाल्यकाल से ही उसके हृदय में घृणा भरी थी। इसका कारण यह था कि बृहस्पति ने संवर्त को कभी स्नेहदान नहीं किया। अपने रूप-यौवन एवं विद्या-बुद्धि के दुरभिमान में वह इतने अविवेकी बन गए थे कि संवर्त की किसी भी चेष्टा को वे कभी पसन्द नहीं करते थे। दैवयोगात् संवर्त का स्वरूप बाल्यकाल में ही असाध्य वाता-व्याधि के कारण सुदर्शन नहीं रह गया था। उसके पैरों में कम्पन रहता था और मेरुदण्ड के झुक-जाने के कारण वह सीधा खड़ा भी नहीं हो सकता था। बृहस्पति में भाई की इस विपन्नावस्था के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी और कभी-कभी वह अपनी नवयौवन-सुलभ उद्धतता के कारण उसे चिढ़ा भी दिया करते थे।

समुद्र की गंभीरता की भी सीमा होती है और परमशीतल चन्दन के काष्ठ में भी अग्नि का निवास होता है। अपनी शान्तिप्रियता, निरभिमानिता तथा सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध संवर्त का जब धैर्य बीत गया और पिता की मृत्यु के अनन्तर उसके प्रति बृहस्पति का अवमान जब और बढ़ने लगा तो उसने खुला विद्रोह कर दिया। उसकी चेतना लुप्त हो गई। अंगिरा के वैभवशाली आश्रम की माया-ममता त्याग कर वह बाहर निकल पड़ा और दिगम्बर वेश में वन्यमार्ग का आश्रय लिया। बृहस्पति जैसे संतापक भाई के संग रहने से अधिक सुख की आशा उसे वन्य में जीवन में ही थी, क्योंकि वहाँ न तो संवर्त का उपहास करने वाला कोई था और न प्रतिक्षण उसके हृदय को भेदने वाली बृहस्पति की वाणी ही वहाँ थी।

संवर्त के इस प्रकार आश्रम से बाहर चले जाने पर बृहस्पति

को परम प्रसन्नता हुई, क्योंकि वह संवर्त को अपने सुखों और समृद्धियों में बाधक मानते थे। संवर्त का तपस्वी जीवन उनको परम पीड़ा पहुँचाता था, और उन्हें भय बना रहता था कि कहीं ऐसा न हो कि अपनी उग्र तपस्या से दुर्लभ वरदान प्राप्तकर संवर्त उनसे भी अधिक प्रभावशाली तथा यशस्वी हो जाय।

वन में जाकर संवर्त की तपस्या और साधना बाधा-विहीन हो गई। अपनी तपस्या से उन्होंने बनवासियों को भी मोहित कर लिया। और थोड़े ही दिनों में उन्होंने न केवल वाणी और विचारों पर ही अपना अधिकार कर लिया वरन् ब्रह्मवर्चस् की अखण्ड आभा से उनका शरीर भी कान्ति-मान हो गया। असाध्य वातव्याधि धीरे-धीरे निर्मूल हो गई और उनके अंग-प्रत्यंग की शोभा बढ़ गई। क्रूर हिंस्र पशुओं तथा वनवासियों के हृदय में भी उनके प्रति श्रद्धा बढ़ गई और वे वन में ही स्वर्गीय शान्ति और सन्तोषपूर्ण जीवन बिताने लगे। संसार में किसी भी वस्तु की कामना उनमें नहीं रह गई थी। फलतः उनका दिनरात जप-तप, पूजन-अर्चन और कथा-कीर्तन में बीतने लगा। बृहस्पति और उनके आश्रम के प्रति कभी भूलकर भी उनका ध्यान नहीं जाता था।

संवर्त बाल्यकाल से ही तपस्वी तथा साधक विचारों के थे। विद्या के प्रति उनमें अगाध निष्ठा तो थी ही, संसार से अनासक्त रह कर लोककल्याणकारी कार्यों में अपना जीवन उत्सर्ग कर देने की भी उनमें उत्कट अभिलाषा थी। अपने तपस्वी पिता अंगिरा की कृपा से उन्हें यज्ञ-यागादि की ऊँची परम्पराओं का ज्ञान था। और विनय, परोपकार, क्षमा, दया तथा कष्टसहिष्णुता के साथ नितान्त पवित्र जीवन बिताने की अभिलाषा ही उनका सर्वस्व था। यशैषणा अथवा प्रतिष्ठा-लोभ उनमें तनिक भी नहीं था। यद्यपि बृहस्पति के प्रति उनके हृदय में घृणा भरी थी अतः केवल एक अभिलाषा उनके मन में थी। वह एक ऐसे महान् यज्ञ का आचार्य बनना चाहते थे, जैसा

इस धरती पर अभी तक किसी के द्वारा संपन्न न हुआ हो। किन्तु वनवासी जीवन में ऐसे यज्ञ की पूर्ति कहाँ संभव थी। अपने जप-तप के जीवन से जब कभी उन्हें तनिक भी अवकाश मिलता तब वह अपने ऐसे अलौकिक यज्ञ को पूर्ति के लिए उपाय सोचने लगते।

इस प्रकार बहुत वर्ष बीत गए। समय के साथ संवर्त की यज्ञाभिलाषा भी पुरानी होती गई। अन्ततः वन में ऐसे यज्ञ की पूर्ति असंभव मानकर संवर्त अनेक वर्षों के बाद वन से बाहर निकले। किन्तु चिर· काल तक वन्य जीवन का अभ्यास होने के कारण वह एक अलौकिक पुरुष बन गए थे। न किसी से कुछ बोलना न किसी का कुछ सुनना। अपनी धुन में मस्त, रमताराम की भाँति वह निरुद्देश्य होकर इधर से उधर और उधर से इधर घूमने लगे। न भोजन की इच्छा न वस्त्र की अभिलाषा। किसी से संवर्त को कुछ मांगने की आवश्यकता ही नहीं थी। प्यास लगने पर किसी सरोवर पर पहुँच कर के तृष्णा की शान्ति कर लेते और भूख लगने पर फल फूल अथवा कन्द मूल से उदर-पूर्ति कर लेते। लोगों ने समझा संवर्त पागल हो गये हैं। बहुधा ऐसा होता, जिधर से निकलते गाँव के लड़के तथा नवयुवक उनका कुछ देर तक पीछा करते, मुँह चिढ़ाते तथा कुछ बोलने के लिए विवश करते, किन्तु संवर्त की भाषा समझने की शक्ति किसी में न होती। मूक भाव से सब की सुनते-सहते और अपने निरुद्देश्य पथ पर आगे बढ़ते चले जाते। न किसी से कुछ लेना न बोलना। बहुत वर्षों तक वह धरती के एक कोने मे दूसरे कोने तक का चक्कर लगाते रहते, किन्तु इस अवधि में उन्हें ऐसा एक भी प्राणी नहीं मिला, जो उनके हृदय को भावों को समझने बूझने अथवा उनसे सहानुभूति की बातें करने का अवसर निकालता। निदान संवर्त की निःस्पृहता एकांगिनी होने के कारण उत्तरोत्तर बढ़ती गई और वह सब कुछ जानने-बूझने की शक्ति रख कर भी अर्धविक्षिप्त की भांति अपने पथ पर निरन्तर चलते रहे।

× × ×

इधर संवर्त के वन गमन के अनन्तर वृहस्पति का निरंकुश स्वभाव और भी अभिमानी बन गया। अपने सहपाठियों, गुरुजनों तथा आश्रमवासियों के प्रति वह तनिक भी उदार नहीं रह गए। दुर-भिमान ने उन्हें ऋषियों-मुनियों की पावन परम्परा से नितान्त पृथक कर दिया। और वह अपने सर्व सुविधा सम्पन्न आश्रम में रह कर भी एकान्त जीवन बिताने के लिए विवश हो गए।

संयोगात् उन्हीं दिनों असुरों के संग देवराज इन्द्र का भयानक संग्राम चल रहा था, जिसमें कूटनीतिज्ञ देवताओं की सहायता से इन्द्र की विजय तथा असीरों की पराजय हो चुकी थी किन्तु यह परा-जय तात्कालिक थी। बलवान असुर गण अपनी ही फूट तथा अवि-वेक के शिकार हुए थे। उनके चतुर प्रमुखों को अपनी पराजय का ज्ञान था, और वे देवताओं समेत इन्द्र को पराजित करने की योजना बना रहे थे। विजयी देवराज चिन्तित थे और असुरों पर स्थायी विजय प्राप्त करने की चिन्ता में उन्हें न दिन में सुख-शान्ति थी और न रात्रि में निद्रा। वे एक ऐसे सहायक की खोज में थे, जो अपनी कूटनीति से असुरों पर स्थायी विजय की प्राप्ति दिला सके।

वृहस्पति की अलौकिक विद्या-बुद्धि की चर्चा त्रिभुवन में व्याप्त थी और उनके दुरभिमान के कारण ऋषियों-मुनियों का समाज संत्रस्त था—इसकी भी जानकारी लोगों को थी। निदान जब देव-राज का अंगिरा के पुत्र वृहस्पति की अनुपम प्रतिभा की चर्चा सुनाई पड़ी तो वह स्वर्ग से चलकर स्वयं वृहस्पति के पास विनीत भाव से पहुँच गए। अपने आश्रम में देवराज के आगमन के कारण वृहस्पति को अपार हर्ष हुआ। उन्होंने देवराज का अपूर्व स्वागत-समादर किया तथा अपने स्वभाव के प्रतिकूल विनीत भाव से उनके आग-मन का प्रयोजन पूछा।

देवराज थोड़ी देर तक चुप रहे। फिर वृहस्पति का सम्मान करते हुए धीर-गंभीर स्वर में बोले—

'मुनिवर ! मैं विशेष कार्य लेकर आप की सेवा में उपस्थित हूँ। मेरी अभिलाषा है कि आप जैसे अलौकिक मनीषी तथा विद्वान का देवलोक में सम्मानित स्थान हो। इस धरती पर मरणधर्मा मानवों के बीच आप जैसे महानुभाव का यथोचित सम्मान नहीं हो सकता। आप का निर्माण धरती के लिए हुआ भी नहीं है। मैं आप को अपने ही नहीं, समूचे देवकुल के आचार्य पद पर अभिषिक्त करना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है आप मेरी प्रार्थना अस्वीकृत नहीं करेंगे।'

देवराज की इस अमृतोपम वाणी ने वृहस्पति को झकझोर दिया। इस धरती पर सचमुच उन्हें अभी तक वह सम्मान नहीं मिला था, जिसकी वह आशा करते थे। समूचे देव कुल समेत देवराज का आचार्य बनने का सौभाग्य अभी धरती के किसी भी प्राणी को नहीं मिला था। उन्हें प्रथम बार यह अनुभव हुआ कि इसी कारण से उनका चित्त अपने आश्रम में नहीं लगता था। वह हर्ष से उन्मत्त हो गए और थोड़ा देर तक वह धैर्य से अपनी उद्दाम प्रसन्नता को मर्यादित करते हुए बोल पड़े।

'देवराज ! मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ। मै आपकी प्रार्थना को स्वीकार करता हूँ और आपके साथ देवलोक चलने के लिए तैयार हूँ। किन्तु मुझे कुछ दिनों तक धरती पर रहने की और आज्ञा दीजिए, क्योंकि कुछ आवश्यक कार्यों से मैं तुरन्त आपके संग देवलोक नहीं चल सकता।'

वृहस्पति कुछ दिनों तक धरती पर रह कर अपने इस अलौकिक सम्मान से प्राप्त सुख एवं ऐश्वर्य की प्रशंसा उन लोगों से प्राप्त करना चाहते थे, जो वृहस्पति की अब भी अवज्ञा करते थे। देवराज वृहस्पति से सहमत हो गए, क्योंकि उन्हें भी देवलोक में अपने प्रमुख परामर्श

दाताओं से इस सम्बन्ध में परामर्श लेना शेष था। वृहस्पति की बातों का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा—'किन्तु आचार्य! मैं एक बात का आश्वासन तो आप से लेना चाहूँगा ही कि अब आज से आप किसी मनुष्य का आचार्यत्व नहीं स्वीकार करेगें। चाहे वह आपके वंशपरम्परागत शिष्य राजा मरुत्त ही क्यों न हों।'

वृहस्पति कुछ क्षणों के लिए असमंजस में पड़ गए। क्योंकि उनके स्वर्गीय पिता महर्षि अंगिरा ने उन्हें इसके लिए सहेजा था कि कभी भूलकर भी राजवंश का अवमान न होने पाए। किन्तु अब विवशता थी। त्रैलोक्य के स्वामी देवराज का आचार्य पद छोड़कर वे केवल भूलोक के स्वामी सम्राट मरुत्त का आचार्यत्व स्वीकार कर घाटे में क्यों रहते। अपने पिता एवं पितामहादि से आगे बढ़कर कीर्ति अर्जित करना वृहस्पति के जीवन का चरम लक्ष्य था। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—

'देवराज! यद्यपि यह सत्य है कि मैं सम्राट मरुत्त का वंश-परम्परागत आचार्य हूँ, किन्तु देवराज के आचार्य पद के सम्मुख मैं अब किसी मरणधर्मा का आचार्य नहीं बनना चाहता। मैं आज ही सम्राट को कहला दूँगा कि वे अपना आचार्य किसी अन्य को चुन लें। आप निश्चिन्त रहें। मैं आपको दिए गए वचन का अक्षरशः पालन करूंगा।'

देवराज यही तो चाहते भी थे। धरती के एकच्छत्र सूर्यवंशी सम्राट मरुत्त से उनकी चिर प्रतिस्पर्धा थी। समुद्रवसना पृथ्वी के एक मात्र शासक मरुत्त की कीर्ति-कौमुदी स्वर्ग-लोक की दिव्य आभा को भी मलिन करने वाली थी। भूमण्डल की सारी प्रजा राजा मरुत्त को ही अपना जीवन-धन मानती और राजा मरुत्त भी समस्त प्रजाजन को अपने पुत्र के समान प्यार करता था। उसका स्वभाव नवनीत से भी कोमल और वज्र से भी कठोर था। दानशीलता, शूरता, गंभीरता, यज्ञपरायणता, दया, परोपकारिता, क्षमा, तपस्या, विचारों

तथा कार्यों की पवित्रता—सब में वह धरती का एक अद्वितीय पुरुषरत्न था। जब कभी धरती के किसी आगन्तुक द्वारा उसके गुणों की चर्चा देवराज के कानों में पड़ती तो वह अवसन्न हो जाते। भूमण्डल भर में फैले हुए मरुत्त के यश के शुभ्र प्रकाश को देखकर वह चिन्ताकुलित हो जाते और मन ही मन इस सम्राट के पतन की योजनाएं बनाने लगते। बृहस्पति को आचार्य बनाने में उनका यह भी अभिप्रेत था कि बृहस्पति जैसे आचार्य के अभाव में मरुत्त का यज्ञ-यागादि अब पूर्ववत सम्पन्न न होने पाएगा।

फलतः बृहस्पति की उक्त आश्वासन भरी वाणी सुनकर देवराज को परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने पुनः कहा—

'बृहस्पते! यदि आप सचमुच मेरा तथा समूची देवजाति का कल्याण करेंगे तो मैं आपका आभारी रहूँगा। आप राजा मरुत्त का यज्ञ तथा श्राद्धादि कर्म—कुछ भी न कराएं। एक मात्र मैं ही तीनों लोकों का स्वामी हूँ, सर्वशक्ति सम्पन्न देवताओं का अधीश्वर इन्द्र हूँ। मरुत्त तो केवल पृथ्वी का राजा है। हम सब अमर हैं, हमारे आचार्य पद पर अभिषिक्त होकर आप फिर किसी मरणधर्मा का आचार्यत्व किस प्रकार सँभालेंगे। आपका कल्याण हो। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप अपनी वाणी का पालन करेंगे।'

'देवराज! तुम सम्पूर्ण चराचर के स्वामी हो। तुम्हारे ही आधार पर सब लोक टिके हुए हैं। पृथ्वी के परम संत्रासक नमुचि, विश्वरूप और बलासुर का विनाश करने वाले तुम्हारे अतुल पराक्रम से मैं परिचित हूँ। तुम धरती और स्वर्ग दोनों लोकों का पालन-पोषण करते हो और पाताल का नियंत्रण भी तुम्हारे अधीन है। फिर तुम्हारा आचार्य हो जाने के बाद मैं मरणधर्मा मरुत्त का यज्ञ एवं श्रद्धादि कैसे करा सकता हूँ।'

'देवेन्द्र! तुम विश्वास रखो और धैर्य धारण करो। अग्नि चाहे शीतलता धारण करे, पृथ्वी चाहे उलट जाय और सूर्य चाहे प्रकाश

से विहीन बन जाय किन्तु अब बृहस्पति मरुत्त का आचार्यत्व नहीं ग्रहण करेंगे।'

देवराज इन्द्र को बृहस्पति की बातों पर विश्वास हो गया और वे सुप्रसन्न तथा निश्चिन्त होकर नन्दन कानन की ओर चल पड़े।

बृहस्पति द्वारा देवराज का आचार्यत्व स्वीकार करने का समाचार धरती भर में कुछ ही दिनों में सर्वत्र फैल गया। बृहस्पति चाहते भी तो यही थे। किन्तु सम्राट् मरुत्त को जब यह संवाद मिला तो उन्हें सहसा विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने बृहस्पति की परीक्षा के लिए एक महान यज्ञ का मानसिक संकल्प किया और स्वयं बृहस्पति के समीप पहुँच कर उनसे अपने महान यज्ञ में आचार्यत्व करने का निवेदन करते हुए विनतस्वर में कहा—

'भगवन्! गुरुदेव! आपने एक बार मुझे एक महान यज्ञ करने का परामर्श दिया था। उस यज्ञ को मैं अब प्रारम्भ करना चाहता हूँ। आपके आदेशानुसार मैंने सब सामग्री एकत्र कर ली है। महानुभाव! मैं आपका पुराना यजमान हूँ। इसलिये आप से प्रार्थना है कि अब आप चलकर हमारे यज्ञ को सपन्न कराएं।'

मरुत्त को अपने आश्रम में आया देखकर बृहस्पति पहले ही से यह जान गए थे कि उनके आगमन का प्रयोजन क्या हो सकता है। फिर तो जब मरुत्त ने आते ही स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार का निवेदन कर दिया तो बृहस्पति थोड़ी देर के लिए स्तब्ध रह गए। किन्तु देवराज इन्द्र को दिए गए बचन को भंग करना बृहस्पति के वश में नहीं था। कुछ देर तक सोच-विचार करने के बाद वे बोले—

—'राजन्! मेरे सामने अब ऐसी कठिनाई आ गई है जिसके कारण अब मैं आपके यज्ञ में भाग नहीं ले सकता। बात यह है कि मैंने देवराज इन्द्र का आचार्यत्व स्वीकार कर लिया है और उनको यह वचन भी दे दिया है कि अब से मैं इस धरती पर किसी के यज्ञ में भाग नहीं लूँगा।'

राजा मरुत्त पहले ही से वृहस्पति का यह निराशाजनक उत्तर सुनने के लिए तैयार थे। कुछ क्षण चुप रह कर उदास स्वर में विनय-पूर्वक वह बोले—

—'विप्रवर वृहस्पते ! मैं आपका वंश-परम्परागत यजमान हूँ। आपके पिता मेरे परम पूज्य थे और आपका भी मैं उन्हीं के समान आदर करता रहा हूं। अतः मुझे छोड़कर किसी दूसरे को यजमान बनाना आपके लिए उचित नहीं है। गुरुदेव ! मुझपर अनुग्रह कीजिए और चलकर मेरा यज्ञ सम्पन्न कराइए।'

वृहस्पपति तत्क्षण बोल पड़े—'राजन् ! यह सर्वथा असंभव है। देवताओं का आचार्यत्व स्वीकार लेने के अनन्तर किसी मनुष्य का आचार्यत्व स्वीकार करना अब मेरे लिए असंभव है। मेरी सलाह है कि आप किसी दूसरे मुनि को अपना आचार्य बना लीजिए और मेरी आशा छोड़ दीजिए।'

राजा मरुत्त वृहस्पति की इस रुक्ष वाणी से निराश हो गए। सादर अभिवंदन कर वे वृहस्पति के आश्रम से अपनी राजधानी की ओर वापस चल पड़े। उनका हृदय बहुत उद्विग्न था, और वे यह सोच भी नहीं पा रहे थे कि किस मुनि को अपना पौरोहित्य अर्पित करें।

इसी बीच मध्यमार्ग में मरुत्त राजा को भेंट देवर्षि नारद जी से हुई। नारद जी को देखते ही स्यन्दन से उतर कर सम्राट् ने दण्डवत प्रणाम किया। कुशल-क्षेम के अनन्तर देवर्षि नारद जी ने जब राजा की उदास चेष्टा देखी तो बोल पड़े—

—'राजर्षि ! क्या ऐसा कारण है, जो सदा कमलवत् प्रसन्न तुम्हारा मुख आज कुम्हलाया हुआ है। तुम्हारे यहाँ सब कुशल-मंगल तो है न ? तुम कहाँ से लौट रहे हो और इस प्रकार की तुम्हारी उदासी का क्या कारण है ? राजन् ! यदि कोई गोपनीय विषय न हो तो मुझे बताओ, मैं प्रयत्न करके तुम्हारा दुःख दूर करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।'

देवर्षि नारद के शुभ दर्शन एवं उत्साह युक्त वाणी से सम्राट् का अवसाद बहुत कुछ दूर हो चुका था। उन्होंने वृहस्पति के संग अपने वार्तालाप का संक्षेप विवरण सुनाते हुए कहा—

—'देवर्षि! मैं अपने कुलगुरु महर्षि अंगिरा के पुत्र वृहस्पति के आश्रम से लौट रहा हूँ। कुछ दिनों पूर्व उन्होंने स्वयं मुझसे एक महान् यज्ञ को आरम्भ करने के लिए कहा था। उनके आदेशानुसार उक्त यज्ञ का संकल्प करके उन्हें ऋत्विज के रूप में वरण करने के लिए मैं उनकी सेवा में गया था। किन्तु उन्होंने मेरी प्रार्थना ठुकरा दी। मुझको मरणधर्मा होने का दोष लगाकर उन्होंने मेरे यज्ञ में भाग लेने की अस्वीकृति दे दी। उनकी इस अस्वीकृति से मुझे महान क्लेश हुआ है। नारद जी! मुझे इतना क्लेश हो रहा है कि अब मैं चिरकाल तक जीवन धारण नहीं करना चाहता। क्योंकि मैं इस अपमानपूर्ण जीवन से मृत्यु को ही श्रेष्ठ मानता हूँ।'

राजा मरुत्त की व्यथा भरी वाणी सुनकर देवर्षि नारद जी ने उन्हें अश्वासन देते हुए कहा—

'राजन्! इस संसार में कोई यज्ञ पुरोहित के कारण नहीं रुका है। आप महर्षि अंगिरा के तृतीय पुत्र संवर्त को क्यों नहीं अपने उस यज्ञ का ऋत्विज बनाते। संवर्त की साधना तथा तपस्या वृहस्पति से किसी प्रकार न्यून नहीं है। और इधर कुछ दिनो से वृहस्पति में जो दुरभिमान और अनुदारता आ गई है, वह उन्हें ऋत्विज पद के सर्वथा अयोग्य बनाती है। क्योंकि सर्वगुणसम्पन्न होते हुए भी ऋत्विज में क्षमा, करुणा और उदारता का होना भी परम आवश्यक है। संवर्त इस दृष्टि से भी वृहस्पति से सुयोग्य हैं। आप उन्हीं के पास जाइए और उन्हें ही अपने यज्ञ का पुरोधा बनाइए। आज-कल वे वृहस्पति के अत्याचारों से ऊबकर अपना पैत्रिक आश्रम त्याग कर इधर-उधर परिव्रजन कर रहें है। दिगम्बर वेश में उनका तेजस्वी व्यक्तित्व आपको प्रथम साक्षात्कार में ही आकर्षित किए बिना नहीं

छोड़ेगा। परम धार्मिक संवर्त ही आपके यज्ञ के सर्वथा अनुरूप हैं। मेरी सम्मति है कि आप प्रयत्नपूर्वक उन्हें ढूँढ़कर अपने यज्ञ का ऋत्विज बनाइए। वे प्रसन्नतापूर्वक आपका अनुरोध स्वीकार करेंगे !'

देवर्षि नारद की अमृत वाणी से राजा मरुत्त को पुनर्जीवन-सा प्राप्त हुआ। उनका हृदय आंखों में उमड़ आया। कुछ क्षण तक रुककर वह गदगद स्वर में विनयपूर्वक बोले—

'देवर्षि नारद जी ! आपने मुझे सचमुच जीवन-दान किया है। इस ओर तो मेरा ध्यान भी नहीं था। आप कृपाकर बताइए कि संवर्त मुनि का दर्शन मुझे कहां मिल सकेगा। मुझे भेंट होने पर उनके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, जिससे वे बृहस्पति के समान मेरी प्रार्थना न ठुकरा सकें। और कहीं उन्होंने भी यदि मेरी प्रार्थना अस्वीकार कर दी तो कृपाकर यह भी बताइए कि तब मेरा क्या कर्त्तव्य होगा।'

नारद जी बोले—'महाराज ! आपने यह अच्छा पूछा। संवर्त की मानसिक स्थिति आजकल ऐसी ही है कि उन्हे पहचानने में और उनके साथ व्यवहार करने में आपको पदे-पदे कठिनाई का अनुभव होगा। वे इस समय भगवान विश्वनाथ की नगरी वाराणसी में पागलों-सा वेश बनाए हुए अपनी मौज से घूम रहे हैं। आप वाराणसी के प्रवेश द्वार पर पहुँचकर कहीं से एक मुर्दा लाकर वहाँ रख दें, और उससे कुछ दूर पर छिपे रहकर यह देखें कि जो कोई दिगंबर, पागल वेशधारी उस मुर्दे को देखकर सहसा पीछे की ओर मुड़ जाता है वही संवर्त मुनि हैं। तदनन्तर उन परम तेजस्वी मुनि के पीछे-पीछे आप तब तक चलते रहें जब तक वे आप से कुछ पूंछतांछ न करें। यह भी संभव है कि वे आप को कठोर दुर्वचन कहकर पथ से विचलित करने का यत्न करें, किन्तु आप निराश न हों। उनके सभी व्यवहारों को सहन करते रहें। मेरा विश्वास है कि आप का सब प्रकार से कल्याण होगा। और संवर्त आप को सफलमनोरथ करेंगे।

हाँ, इतना ध्यान रखिएगा कि जब वे मेरा पता पूछें तो उन्हें बता दीजिएगा कि मुझसे आप का संकेत तथा परिचय देने के बाद नारद जी अग्नि में प्रविष्ट हो गए।'

राजा मरुत्त ने ऐसा ही किया। मध्य मार्ग से ही वे वाराणसी की ओर चल पड़े और वहाँ उत्तर के प्रवेश द्वार पर पहुँचकर उन्होंने रात्रि के समय एक मुर्दा लाकर वहां रख दिया। स्वयं कुछ दूर हटकर एक वृक्ष के झुरमुट में छिप कर वे उत्सुक मन से संवर्त मुनि के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। रात्रि जब ढलने को हुई और सर्वत्र अन्धकार के साथ-साथ ही भयानक नीरवता भी छा गई तो राजा ने देखा कि पश्चिम से आने वाले मार्ग द्वारा एक पागल कुछ बड़बड़ाता हुआ वाराणसी के प्रवेश द्वार के समीप पहुँच रहा है। राजा को नींद तो थी नहीं। वे सावधान हो कर उस पागल की गतिविधि को देखने लगे।

प्रवेश द्वार के कुछ दूर एक मुर्दे को पड़ा देखते ही पागल ठिठक कर खड़ा हो गया। थोड़ी देर तक इधर-उधर कुछ दूर तक निहारने के बाद वह पागल बड़बड़ाते हुए जब अपने आने वाले मार्ग पर वापस लौट पड़ा तब राजा मरुत्त को विश्वास हो गया कि महर्षि अंगिरा के तृतीय पुत्र संवर्त यही हैं, किन्तु उनकी विचित्र मनःस्थिति तथा दिगम्बरी वेश-भूषा के कारण वह उनके पीछे जाने का साहस सहसा नहीं कर सके। कुछ क्षण तक इसी विचार में लीन रहे कि कहीं इस उन्मत्त मुनि ने उन्हें शाप दे दिया तो फिर क्या होगा। किन्तु देवर्षि नारद के कथन पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। वह बिना विलम्ब किए ही उस पागल के मार्ग पर चल पड़े। कुछ दूर आगे बढ़ने पर उन्होंने देखा कि पागल एक वट वृक्ष के नीचे समाधि में लीन होकर बैठ गया है। राजा अधीर होकर उसके प्रकृतिस्थ होने की आतुर प्रतीक्षा करने लगे।

कुछ क्षण बाद संवर्त ने अपने समीप करबद्ध उपस्थित राजा मरुत्त को ज्यों ही देखा त्यों ही उनके ऊपर धूल उठा कर फेंकना शुरू किया।

कीचड़ तथा ढेला फेकने लगे, थूकने लगे और दुवर्चन कह कर उन्हें भगाने का प्रयत्न करने लगे। किन्तु राजा मरुत्त मूर्ति के समान वहीं खड़े ही रह गए। संवर्त की वाणी तथा क्रियाओं का उन पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा।

निरुपाय संवर्त बटवृक्ष के नीचे से खिसक कर आगे की ओर तीव्र गति से जब भागने लगे तब राजा ने भी उनका उसी गति से अनुगमन किया। बहुत दूर तक भागने के बाद भी जब राजा पीछे की ओर नहीं लौटा तो संवर्त ने उन्हें क्रोध से डाटते हुए कहा—

'दुर्मते ? तू कौन है, जो इस निर्जन अरण्य में भी मेरा पीछा कर रहा है। क्या तू अपने शरीर, परिवार, कुल तथा संसार की ममता त्याग चुका है, जो मेरे साथ रहना चाहता है। मैं तुझे एक क्षण के लिए भी अपने संग रखने को तैयार नहीं हूँ।'

संवर्त के ऐसा कहते ही राजा मरुत्त हाथ जोड़कर उनके चरणों पर गिर पड़े और गदगद कण्ठ से अपना परिचय देते हुए बोले—

'मुनिवर ! मैं आपके पिता महर्षि अंगिरा का यजमान मरुत्त हूँ। प्रजा के कल्याण की कामना से एक यज्ञ करना चाहता हूँ। आप के ज्येष्ठ भाई वृहस्पति ने मुझे ठुकरा दिया है। मैं आप की शरण में आया हूँ। मेरी प्रार्थना है कि आप मेरा यज्ञ सम्पन्न कराएं।'

संवर्त बोले—'राजन् ! सच सच बोलो तुमने मुझे कैसे पहचाना है और किसने तुम्हें मेरा परिचय दिया है। यदि तुम मेरा और अपना कल्याण चाहते हो तो सब बातें मुझे ठीक-ठीक बताओ। यदि तुम सत्य बोलोगे तो तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा और यदि मिथ्या बोलोगे तो तुम्हारा मस्तक सहस्र खण्डों में विशीर्ण हो जायगा।'

राजा मरुत्त कांप गए। संवर्त का अपरिमित तेज उनसे सह्य नहीं हुआ। कांपती हुई वाणी में वह बोले—

'मुनिवर! त्रैलोक्य में सतत विचरण करने वाले देवर्षि नारद ने मुझे आपका परिचय तथा स्थान-संकेत बताया है। आप मेरे अपराधों को क्षमा करें और मुझे अपनी शरण में लें।'

संवर्त को सन्तोष हुआ। उनकी वाणी की रूक्षता कुछ तरल हुई। कुछ क्षण रुक कर वह स्निग्ध स्वर में बोले—

'राजन्! तुम सत्य कहते हो। त्रैलोक्य में देवर्षि नारद को छोड़कर मुझे कोई अन्य पहचान भी नहीं सकता था। वही अकेले ऐसे हैं, जिन्हें मेरे जीवन के संबंध में सब कुछ ज्ञात है। वही यह भी जानते हैं कि मैं एक महान् यज्ञ कराना चाहता हूँ। अच्छा। तुम यह तो बताओ कि इस समय नारद जी से मेरी भेंट कहां हो सकती है।'

राजा कुछ आश्वस्त हुए। बोले—'मुनिवर! आपका परिचय तथा स्थान-संकेत देने के अनन्तर देवर्षि नारद मुझे यहाँ आने की आज्ञा देकर स्वयं अग्नि में प्रवेश कर गए थे।'

राजा मरुत्त द्वारा देवर्षि नारद के अग्नि प्रवेश की चर्चा सुनकर संवर्त को विश्वास हो गया। उन्होंने राजा से कहा—'ठीक है, इतना तो मैं भी कर सकता हूँ। किन्तु नारद ने तुम्हें ठीक परामर्श नहीं दिया। तुम देख रहे, मुझे वात-व्याधि है। उन्मत्त के समान दिगंबर रहता हूँ। बनवासी जीवन के चिर अभ्यास के कारण असंस्कृत हूँ। ऐसे अनधिकारी को तुम व्यर्थ ही ऋत्विज बनाना चाहते हो। मेरे ज्येष्ठ भाई बृहस्पति इस कार्य में पूर्ण समर्थ हैं। आजकल देवराज इन्द्र के साथ उनका मेलजोल भी खूब बढ़ा है। ऐसे योग्य तथा अधिकारी आचार्य को छोड़कर मुझसे यज्ञ कराना तुम्हारे जैसे सम्राट् के लिए उचित नहीं है। तुम जानते हो, पिता की घर गृहस्थी का सारा सामान, सारे यजमान, गृह-देवताओं के पूजनादि का सब कर्म मैं त्याग चुका हूँ। ये सारी वस्तुएं मेरे भाई बृहस्पति के अधीन

है। मेरे पास तो केवल मेरा टेढ़ा-मेढ़ा शरीर मात्र है। अतः ऐसी स्थिति में मैं तुम्हारे यज्ञ को सम्पन्न कराने योग्य नहीं हूँ। मैं अपने बड़े भाई की आज्ञा प्राप्त किए बिना किसी तरह भी तुम्हारा यज्ञ नहीं करा सकता। तुम मेरी बात मानकर पुनः बृहस्पति के पास जाओ। उनकी आज्ञा लेकर आओ। यदि वे आज्ञा दे देंगे तो मैं तुम्हारा यज्ञ करा दूँगा।'

राजा मरुत्त ने बृहस्पति के साथ अपनी वार्ता का संक्षेप बताते हुए विनीत वाणी में कहा—

'मुनिवर ! मैं सर्वप्रथम बड़ी भक्ति, श्रद्धा और प्रेम से उनके पास गया था, किन्तु अब वे देवताओं के आचार्य एवं पुरोधा हो जाने के कारण हमारा यज्ञ नहीं करा सकते। स्वयं देवराज इन्द्र ने बृहस्पति को मेरा यज्ञ कराने से मना किया है, क्यों कि उनके साथ मेरा पुराना वैमनस्य है। आपके भाई बृहस्पति देवराज इन्द्र को वचन देकर अब मुकर नहीं सकते, क्योंकि देवकुल का आचार्य होने में उन्हें सब प्रकार का लाभ ही लाभ है।

'ब्रह्मन् ! अब मैं आप को छोड़कर बृहस्पति के पास नहीं जाना चाहता। मैं अपना सर्वस्व लगाकर आपके द्वारा ही अपना यज्ञ कराना चाहता हूँ। मेरी तीव्र अभिलाषा है कि आप के द्वारा सम्पन्न यज्ञ के पुण्यबल से मैं देवराज इन्द्र को हतप्रभ कर दूं।'

संवर्त थोड़े प्रकृतिस्थ तो पहले ही से थे। अपने ज्येष्ठ भाई बृहस्पति के दुरभिमान की चर्चा ने उन्हें झकझोर दिया। बहुत दिनों से उनकी अभिलाषा थी कि एक ऐसा यज्ञ वे कराएं, जैसा पृथ्वी पर अभी तक किसी ने न कराया हो। राजा मरुत्त से बढ़कर कोई दूसरा यजमान इस धरती पर कौन था, जो वैसा यज्ञ कराने की सामर्थ्य रखता। कुछ क्षण चुप रह कर वे सहज प्रसन्न वाणी में बोले—

'राजन् ! यदि तुम मेरी इच्छा के अनुसार कार्य करोगे तो तुम जो कुछ चाहोगे वह निश्चय ही पूर्ण होगा। किन्तु तुम्हें कुछ बातों

पर पहले ही ध्यान देना होगा। क्योंकि जब मैं तुम्हारा यज्ञ कराने लगूँगा तब मेरे भाई वृहस्पति और देवराज इन्द्र दोनों ही कुपित होकर मेरे साथ द्वेष करेंगे। उस समय तुम्हें दृढ़ रह कर मेरा समर्थन करना होगा। इस बारे में मुझे सन्देह हो रहा है कि कहीं उस समय तुम भयभीत होकर मेरा साथ तो न छोड़ दोगे। अतः जैसे भी मेरे मन का सन्देह दूर हो तुम वैसा ही उपाय करो। अन्यथा मैं तुम्हें अभी बन्धु-बान्धवों समेत शापाग्नि में भस्म कर दूँगा।'

यह कहते ही संवर्त का सहज प्रसन्न मुखमण्डल क्रोध से रक्त वर्ण हो गया। नथुने फड़कने लगे। आखें भर कर लाल हो गईं, भुजायें फड़कने लगीं और वह तेजी से इधर-उधर घूमने लगे। राजा मरुत्त मुनियों के ऐसे स्वभाव से पूर्ण परिचित थे। वह विचलित नहीं हुए। तुरन्त ही धीर-गंभीर स्वर में बोले—

'ब्रह्मन्! मैं यदि किसी भी विपदा में आपका साथ छोड़ दूं तो मुझे कभी उत्तमगति न मिले, शुभ बुद्धि की प्राप्ति न हो और मैं सदा विषय-वासनाओं का दास बना रहूँ। यही नहीं मेरा समूल बिनाश हो जाय। मैं कभी आपका साथ नहीं छोड़ूँगा, मुनिवर!'

संवर्त पुनः पूर्ववत् सन्तुष्ट हो उठे। बोले—'राजन्! मैं तुम पर परम प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें ऐसे अक्षय धन की प्राप्ति का उपाय बताऊँगा जिससे तुम गन्धर्वों समेत समस्त देवताओं एवं देवराज इन्द्र की कुमति को नीचा दिखा सकोगे।

'राजन्! तुम्हारी वह कल्याणी बुद्धि सदा सत्कर्मों में लगी रहे। मेरे हृदय में अब तुम्हारा यज्ञ कराने की इच्छा तीव्रतर हो रही है। मुझे अपने लिए न तो धन-सम्पत्ति चाहिए और न यजमानों का संग्रह ही मुझे करना है। मैं तो अपने भाई वृहस्पति और उनके यजमान इन्द्र को यह बताना चाहता हूँ कि इस धरती पर संवर्त ने एक ऐसा यज्ञ कराया था, जैसा वे नहीं कर सकते। मैं इन्द्र को

दिखाना चाहता हूँ कि इस धरती का राजा मरुत्त देवराज इन्द्र से कम महान नहीं हैं।'

संवर्त की अमृतोमम वाणी से राजा मरुत्त का तन-मन भींग गया। उसने मन ही मन अपने जन्म की सार्थकता स्वीकार की। संवर्त को अपनी आन्तरिक अभिलाषाओं की पूर्ति का अपराजेय प्रतिनिधि मान कर फिर से उनका अभिनन्दन करते हुए उसने कहा—

'मुनिवर! मुझे कृपाकर आप यज्ञ के साधन रूप में प्रयुक्त करने वाले उस धन की प्राप्ति का स्थान तथा उपाय बताइए, जिसके द्वारा हमारा यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न होगा। मैं उसकी यथाशीघ्र प्राप्ति कर यज्ञ का आरम्भ करने को उत्सुक हूँ।'

संवर्त बोले—'राजन्! हिमालय के पृष्ठ भाग में मुंजवान नामक पर्वत शिखर है। जहां शंकर-पार्वती का सुखद निवास-स्थल है। वहां बनस्पतियों के मूल भाग में, दुर्गम पर्वत शिखरों तथा कन्दराओं में शंकर जी पार्वती के साथ अपने गणों एवं यक्षों के संग क्रीडा निरत रहते हैं। प्रभात की पावन बेला में उनका श्रीविग्रह सैकड़ों सूर्य की भांति जाज्वल्यमान हो उठता है। संसार का कोई भी प्राणी वहां न तो जा सकता है और न शंकर जी की इस अलौकिक छवि को देख सकता है। वहां न तो अधिक गर्मी पड़ती है, न अधिक शीत, न अधिक वायु का प्रकोप है, न वर्षा से भींगने का डर। वहां भूख और प्यास भी नहीं लगती। और न जरा-मृत्यु का ही भय रहता है।

'राजेन्! उसी दुर्गम पर्वत शिखर के चतुर्दिक अंचलों में सूर्य की किरणों के समान देदीप्यमान सुवर्ण की खाने हैं, जिनकी कुबेर अपने सेवकों के संग शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर तन-मन से रक्षा करते हैं। मेरी आज्ञा से तुम वहां जाओ और मेरे बनाए हुए षस्तोत्र से उनकी प्रार्थना कर उन्हें प्रसन्न करो। शंकर जी आशुतो

हैं, तुम्हारी आत्मसमर्पण की भावना से वे तुझ पर प्रसन्न हो जायेंगे और तुम्हें अपनी शरण में ले लेगें। तुम अपने साथ उक्त सुवर्ण की अतुल राशि को लेने के लिए हाथी, घोड़े, ऊंट, खच्चर, तथा पदाति व्यक्तियों का समूह लेते जाना। शंकर जी की कृपा से कुबेर तुम्हें यथेष्ट सुवर्ण लाने में बाधा नहीं डालेंगे। तुम शीघ्र ही वहां जाओ और वहां से निर्विघ्न वापस आकर यज्ञ की तैयारी करो।'

ऐसा कहकर मुनिवर संवर्त ने राजा मरुत्त को शिव की उक्त स्तुति बतलाई, जिसके द्वारा उसने मुंजवान पर्वत शिखर पर जाकर शंकर जी की आराधना करके उन्हें सुप्रसन्न किया। शिवजी की प्रसन्नता से राजा मरुत्त ने अपने संग ले जाने वाले सहस्रों बाहनों तथा व्यक्तियों द्वारा कुबेर से अतुल सुवर्ण राशि प्राप्त की। अब तक धरती पर वैसी सुवर्ण राशि की कल्पना भी किसी ने नहीं की थी।

राजा मरुत्त ने उस अनुपम सुवर्ण राशि को प्राप्त कर अपने को धन्य माना और हृदय में यह विश्वास कर लिया कि संवर्त मुनि की कृपा से उसका वह यज्ञ अब अवश्य ही निर्विघ्न सम्पन्न होगा, जिससे देवराज इन्द्र तथा बृहस्पति को उसकी महिमा स्वीकार करनी पड़ेगी।

अपनी राजधानी में सकुशल वापस लौट कर राजा मरुत्त ने यज्ञ की सारी तैयारी आरम्भ कर दी। देश के कोने कोने से दक्ष शिल्पियों को बुलाकर अलौकिक यज्ञशाला बनवाई। उस यज्ञशाला की सारी तैयारी सुवर्ण से बनी हुई वस्तुओं द्वारा हुई। फिर सुवर्ण के पात्र तैयार कराए। श्रोताओं, ऋत्विजों एवं आचार्य के लिए रत्न जटित आसन बनवाए और दक्षिणा के रूप में देने के लिए अतुल सुवर्ण राशि का संकल्प किया।

राजा मरुत्त के इस अलौलिक यज्ञ की चर्चा जब बृहस्पति ने सुनी तो वे चिन्ता के मारे पीले पड़ गए। संवत की प्रतिष्ठा, उन्नति एवं प्रशंसा के इस प्रसंग से वे दिनानुदिन दुबले होने लगे। लोगों से

मिलना-जुलना बंद कर दिया और अपने आश्रम में दिन रात घुलने लगे। देवराज इन्द्र ने जब वृहस्पति की यह दशा सुनी तो वे तुरन्त उनके पास आए और उनके इस प्रकार दुखी होने का कारण पूछने लगे। वृहस्पति ने बड़े कष्ट से संवर्त द्वारा सम्पन्न होने वाले राजा मरुत्त के इस अलौकिक यज्ञ की चर्चा की और उनसे स्पष्ट रूप में कहा—

'देवराज ! मैं यह नहीं सहन कर सकता कि इस धरती पर कोई मरणधर्मा ऐसा यज्ञ करे, जैसा देवराज ही कर सकते हैं। और उस यज्ञ का आचार्य मेरा सहज विरोधी हो—यह भी मेरे लिए अत्यन्त क्लेश की बात है। आपके कहने पर ही मैंने राजा मरुत्त के इस यज्ञ को न कराने का निश्चय किया था, अन्यथा वह तो सर्वप्रथम मेरे ही पास आए थे। अतः जैसे भी संभव हो संवर्त और मरुत्त की यह अलौकिक अभिलाषा पूरी न होने पावे।'

देवराज कुछ क्षण चुप रहे। फिर बोले—'ब्रह्मन् ! आप को इस धरती के मनुष्यों की उन्नति से क्यों चिन्ता होती है। आपने जरा और मृत्यु को जीत लिया है, जिसे संवर्त या मरुत्त तो इस जन्म में नहीं प्राप्त कर सकते।'

वृहस्पति तत्क्षण सोच्छ्वास बोले—'देवराज ! कुछ भी हो,किन्तु मैं संवर्त के द्वारा सम्पन्न होनेवाले राजा मरुत्त के इस अलौकिक यज्ञ को निर्विघ्न नहीं देखना चाहता। यदि आप सचमुच मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मेरे लिए अतिशय दुःखदायिनी इन दोनों बातों को असंभव बना दें। यदि दोनों बातों में से कोई एक ही संभव हो तो राजा मरुत्त का वह यज्ञ मेरे द्वारा ही सम्पन्न हो—ऐसी व्यवस्था कराएँ। इस धरती पर बृहस्पति के रहते हुए किसी दूसरे आचार्य को ऐसा अलौकिक यज्ञ कराने का श्रेय नहीं मिलना चाहिए।'

देवराज ने वृहस्पति का मर्म समझने में देर नहीं की। अग्निदेव को बुलाकर उन्होंने तत्क्षण राजा मरुत्त के पास यह सन्देश भेजा

कि 'आप के इस यज्ञ का आचार्यत्व बृहस्पति ही करेंगे संवर्त नहीं। यदि तुम ऐसा करोगे तो तुम्हें भी अजर-अमर बना दिया जायगा।'

अग्निदेव द्वारा देवराज का सन्देश मिलने पर राजा मरुत्त ने बड़ा रूखा उत्तर दिया। उन्होने स्पष्ट कह दिया कि मैं अपने इस यज्ञ का आचार्य संवर्त को बना चुका हूँ। अजर-अमर ही नहीं यदि देवेन्द्र का भी पद मुझे मिले तो मैं वृहस्पति को अपने इस यज्ञ का आचार्य बनाने को तैयार नहीं हूँ। मैं तो सर्वप्रथम उन्हीं के पास गया था, जब उन्होंने अस्वीकार किया तब मैंने संवर्त को आचार्य बनाया। और अब उन्हें आचार्य बनाकर मैं फिर से निराश नहीं करना चाहता क्योंकि—मैंने जीवन में किसी लाभ या लोभ के कारण अपना वचन नहीं टाला है।'

अग्निदेव ने राजा मरुत्त को प्रकारान्तर से समझाने-बुझाने की चेष्टा की, किन्तु उनका सब प्रभाव व्यर्थ रहा। अन्त में उन्होंने राजा को यह कह कर भयभीत करना चाहा कि 'राजन ! यदि आप देवराज इन्द्र से वैर ठानते हैं तो आपका दोनों लोक बिगड़ जायगा। यज्ञ सम्पन्न होना तो दूर आप को और संवर्त को अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ेगा। और यदि उनकी सम्मति पर चलते हैं तो दोनों ओर मंगल है। बृहस्पति से बढ़कर इस पृथ्वी पर कौन दूसरा आचार्य है और अजर अमर होने से बढ़कर एक मरणधर्मा की कौन दूसरी कामना है।'

अग्निदेव की ये बातें संवर्त के कानों में जब पड़ीं तो वे क्रोध से जल उठे। उन्होंने अग्नि देव को धमकाते हुए कहा—

'अग्निदेव ! तुम्हारा कल्याण इसी में है कि अब तुम तत्क्षण यहाँ देवराज इन्द्र और वृहस्पति के पास वापस चले जाओ और उनसे कह दो कि अब इस धरती पर होने वाले राजा मरुत्त के यज्ञ को कोई नहीं रोक सकता। यदि तुम यहां से तुरन्त चले नहीं जाते हो तो मुझे बाध्य होकर तुम्हें भस्म करना पड़ेगा।'

संवर्त की इस तेजस्विनी वाणी को सहन करने की शक्ति अग्निदेव में नहीं थी। वे तुरन्त इन्द्र के पास वापस चले गये और उनसे तथा बृहस्पति से राजा मरुत्त और संवर्त के साथ होने वाली अपनी वार्ता का संक्षेप सुनाते हुए कहा—'देवराज ! आज तो मैं बुरे फँस गया था। संवर्त का तेज सहने की शक्ति मुझमें सचमुच नहीं है।'

अग्नि देव की इस निराशाभरी बात से देवराज को भी चिन्ता हो गई और बृहस्पति पर तो मानों विपत्तियों का पहाड़ गिर पड़ा। दोनों ने एक दूसरे से परामर्श कर फिर अग्निदेव को यह सन्देश लेकर राजा मरुत्त के पास जाने का अनुरोध किया कि—यदि बृहस्पति इस यज्ञ का आचार्यत्व न करेंगे तो देवराज अपने वज्र की चोट से तुम्हारे शरीर को सहस्रों टुकड़ों में चूर्ण कर देंगे।'

किन्तु देवराज और बृहस्पति के अनेक अनुरोध करने पर भी अग्निदेव फिर से राजा मरुत्त और संवर्त के पास यह सन्देश लेकर जाने को तैयार नहीं हुए। फिर गन्धर्वराज धतराष्ट्र के द्वारा राजा मरुत्त के पास देवराज ने अपना उक्त सन्देश भेजा।

किन्तु राजा मरुत्त और संवर्त देवराज और बृहस्पति के इरादों से चिरपरिचित थे। उन्होंने धतराष्ट्र को भी हतोत्साहित करते हुए उनका सन्देश अस्वीकार कर दिया। उनके अस्वीकार करते ही आकाश मण्डल में काले मेघ छा गए। दिशाएँ लुप्त हो गईं। धरती कांपने लगी और इन्द्र के वज्र के निर्घोष से चराचर विह्वल होने लगा। राजा मरुत्त को जब यह ज्ञात हुआ कि देवराज ने उनके ऊपर आक्रमण कर दिया है तो उन्होंने संवर्त की शरण ली। संवर्त ने अपने अनुपम मंत्र एवं तपोबल से इन्द्र की उन सभी बाधाओं को दूर करते हुए राजा मरुत्त को अभयदान किया और देवराज समेत उनके सभी अनुचरों को अपनी स्तम्भिनी विद्या के द्वारा ऐसा विजडित किया कि वे सभी आकाश मण्डल में चित्र लिखे से खड़े रह गए। न नीचे आ सकते थे और न ऊपर जा सकते थे। अपने यजमान देवताओं

समेत देवराज की यह दुर्दशा वृहस्पति से नहीं देखी गई। उन्होंने अपनी अमोघ विद्या द्वारा संवर्त की इस क्रिया को जब निष्फल करने का प्रयास किया तो वे भी विफल रह गए। उसी क्षण देवराज समेत सभी देवताओं ने अनुभव कर लिया कि संवर्त के समान तेजस्विनी विद्या वृहस्पति के पास नहीं है।

अन्त में देवराज को झुकना पड़ा। अग्नि के समान तेजस्वी संवर्त को सुप्रसन्न करने के लिए समस्त देवताओं के संग उन्होंने स्वयं राजा मरुत्त के उस महान् यज्ञ में भाग लिया और राजा मरुत्त के हाथों सोम रस लेकर पान किया। यज्ञ की सविधि समाप्ति हो जाने पर राजा मरुत्त ने देवताओं समेत देवराज का अभिनन्दन किया और इन्द्र ने भी राजा मरुत्त के साथ अपनी दृढ़ मैत्री स्थापित कर उन्हें धरती का एकच्छत्र सम्राट् घोषित किया।

यज्ञ समाप्ति के अनन्तर संवर्त ने अपने अग्रज बृहस्पति का हार्दिक अभिनन्दन किया और दक्षिणा में प्राप्त सारी सुवर्णराशि उन्हें समर्पित कर स्वयं वन का मार्ग ग्रहण कर लिया।